राह न रुकी

रांगेय राघव

राह न रुकी

विशिष्ट शैली में लिखा यह उपन्यास उदात्त चरित्रों की सृष्टि करता है, और इसकी विशेषता है कि इतिहास में से व्यक्ति बोलता है, व्यक्ति में से युग और युग में से युग-युग। यह तो उन रचनाओं में से है जिनकी वस्तु और रूप अभी सैकड़ों बरस तक पुराने नहीं पड़ेंगे।

बुद्ध और महावीर के युग का चित्रण करने वाला यह ऐतिहासिक उपन्यास स्त्री और पुरुष, लोक और व्यक्ति, राज्य और सत्य इत्यादि के मूल प्रश्नों को उठाता है और दिखाता है कि उस समय भी इनपर विचार किया गया था। आज भी हमें वे ही समस्याएँ घेरे हैं और हम अब भी उनके हल खोज रहे हैं।

रांगेय राघव

राह न रुकी

[उपन्यास]

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

मूल्य
तीन रुपये

प्रथम संस्करण
मार्च, १९५८

आवरण
नरेन्द्र श्रीवास्तव

प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज़,
दिल्ली

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस,
दिल्ली

भूमिका

राह न रुकी—एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें मैंने बुद्ध-महावीर युग के उस पुनर्जागरण को प्रस्तुत किया है, जो हज़ारों साल के वैदिक युग के अंत में भारत में उपस्थित हुआ था। यह बात कितनी महत्व भरी है कि आज हम एक नये पुनर्जागरण में हैं!

पुरुष और स्त्री, तथा व्यक्ति और समाज और राज्य और हिंसा, यह प्रश्न उस समय भी थे और आज भी हैं। भारत में वह युग था सामंतीय संस्कृति के उदयकाल का, और आज का युग है सामंतीय संस्कृति के अंत का। ढाई हज़ार साल के इस समय के दो छोर हमारे सामने मौजूद हैं और हमें इन्हीं सवालों का जवाब देना है। अपने लेखन में यद्यपि मैंने मूलभूत समस्याओं को उठाया है, परंतु उन्हें आज के दृष्टिकोण से नहीं देखा। मेरे पात्र अपने युग के दृष्टिकोण से देखते हैं।

सती वसुमति को जैन साहित्य में चंदनबाला के नाम से बड़ी साध्वी के रूप में माना गया है। उसका ऊँचा स्थान है। महावीर स्वामी ने स्त्री संघ के लिये उसे सबसे ऊँची जगह दी थी। परंतु वसुमति की कथा में भी, अन्य कथाओं की तरह, जैन पुराणकार इतिहास से ठीक नहीं बैठे हैं। नामों में गड़बड़ होती है। मृगावती एक ओर बिबसार की स्त्री है, एक ओर शतानीक की। शतानीक को सन्तानिक भी लिखा है। शतानीक की स्त्री मृगावती जैनमार्ग अपनाती दिखाई गई है, जब कि उसका पुत्र उदयन तक जैन-बौद्ध संप्रदायों से इतना प्रभावित नहीं हुआ। यह बौद्ध और जैन पुराणकारों की आदत है कि वे सबको अपने रंग में रँगा हुआ दिखाते हैं। इसी तरह अङ्ग के दधिवाहन की पत्नी बताई गई है मगध की पद्मावती। मगध की पद्मावती भास के अनुसार ब्याही थी उदयन को, और उदयन था शतानीक का पुत्र। पद्मावती थी अजातशत्रु कुणिक की पुत्री। इसीलिये मैंने नामों के इस झंझट को महत्व नहीं दिया। दूसरे शतानीक ने अङ्गदेश जीता नहीं था, क्योंकि महावीर और

बुद्ध के उपदेशक रूप में आने के समय से पहले ही वत्स का ..
के राजा बिंबसार का अधिकार हो चुका था।

लोगों ने प्राय: बुद्धमत को अधिक देखा है। उन्हें जैनमत का भी व्यापक प्रभाव देखना चाहिये। जिनमार्ग को अपनाने वालों ने अपने समय में बड़े-बड़े प्रयोग किये थे, जो आज भी अपना महत्व रखते हैं। एक दृष्टि से महावीर का मत अधिक व्यापक था, क्योंकि उन्होंने गृहस्थ को अधिक महत्व दिया था और स्त्रियों को भी उन्होंने साधना के पथ में प्राय: बराबरी का ही दर्जा दे दिया था।

उच्चवर्ग की जो स्त्रियाँ आज अपने वर्गस्वार्थ को जीवित रखती हुई झूठी स्त्री-स्वतंत्रता की बातें करती हैं, उनके लिये वसुमति एक पाठ है। राज्य की जो समस्या तब थी, वही अपने मूल रूप में आज भी है।

प्राय: ही मैंने अपनी ऐतिहासिक रचनाओं में युग को देखा है, और युग के माध्यम से देखा है व्यक्ति। और व्यक्ति के बारे में कह सकता हूँ, अपनी युगसामा में बद्ध वह निरंतर सत्य की खोज करता रहा है। उसे आश्चर्य से देखने की वृत्ति तो हमें छोड़नी ही होगी। व्यक्ति के बाह्य का चित्रण करके रह जाना, मुझे पसंद नहीं। दुर्भाग्य से मन के चित्रण को हिंदी में अंतश्चेतनावाद से मिलाकर जो भूल की जा रही है, मैं उसका भेद स्पष्ट करना चाहता हूँ, और इसीलिये मैंने व्यक्ति को अधिकाधिक गहराई से जाँचने की कोशिश की है। उपन्यास या कलाकृति केवल मनोरंजन के लिये नहीं, वह निम्न स्तर के आलोचकों तक उतरने के लिये भी नहीं। उसे सहज होना होगा पाठक के लिये, किंतु उतना ही उठना होगा आलोचक को उसे समझने के लिये।

रांगेय राघव

१.

'ओ तेरा सत्यानास जाये !'

'ओ तेरे मुँह में आग लग जाये।'

'ठहर कलमुँही ! तेरे बाल-बच्चों को जीता-जागता नदी में डूबता देखूँ।'

'कीड़े पड़ जायें तेरी जीभ में कमीनी ! तेरी इज्जत चौराहे पर चील-कौए खायें। तेरी सात-सात पीढ़ी प्यासी तरसें। तेरा आदमी कोढ़ी हो जाये।'

'बस-बस,' एक पुरुष स्वर : 'क्या लड़ती हो दिन-रात। कलेस मचा रखा है बस्ती में।'

'हाय भइया ! तू मुझसे ही कहता है। उससे नहीं कहा कुछ। दिन-रात मेरा खून पीती है।'

'तो तेरी वह है कौन ? पड़ोसिन है। उससे तेरा नाता नहीं, तेरे कुटुम्ब की वह नहीं। तू दाल-भात में मूसरचन्द की तरह क्यों लगती है उसके मुँह।'

'मैं लगती हूँ मुँह कि वह मेरे आड़े आती है। जब देखेगी कि मैं कहीं घर से निकलनेवाली हूँ तो जान-बूझकर खाली घड़ा लेकर ठीक उसी बखत निकलेगी मेरे सामने से। सौ बार कह चुकी हूँ इस बिल्ली से कि मेरा रास्ता मत काट, पर पाप की जनी में हया-शरम कहाँ ?'

'अपनी बहन की जीभ पर कोड़ा लगा दे तू, उसके भैया। पाप की जनी होगी वह आप, और होगा तू भी। हाँ, खबरदार, जो मेरी माँ को कुछ कहा !'

'देखा भैया, अभी तक तो मुझसे थी, अब तुझ तक से उलझ पड़ी। देखा ! इसे न औरत का डर, न मरद की शरम। कुटनी है कुटनी। हजार मर्दों की इसे लाज नहीं, ऐसी है यह कुलटा। एक सीधा-सा मिल गया है न इसे। उसकी तो आँखों में धूल झोंक के रहती है। उसे देखती हूँ तो सोचती हूँ कि वह तो मर जाये, तो भला। आदमी की जाति को फिर ऐसा कलंक तो न लगे।'

जरिता आ गई ।

मैंने पूछा : 'ले आई ?'

'हाँ, ले आई ।'

उसने मेरा कटिबंध मुझे दे दिया । और कहा : 'गिरते ही यह हल्का-सा उड़ा और बगल में झाड़ी पर जा गिरा । तभी धूल नहीं लगी इसे । पर कुमारी अब न गिराना इसे । चलो सारथी !'

सारथी ने रथ बढ़ाया ।

मैंने कहा : 'जरिता अम्मा ! कटिबंध गिरा और जितनी देर में तुम इसे लाईं उतनी देर में तो यहाँ मैंने युद्ध देख लिया ।'

'अरे ! किसने लड़ाई की ?'

'वही, कोई दो औरतें थीं । एक आदमी समझा रहा था ।'

जरिता ने कहा : 'भली चलाई कुमारी ! इन औरतों का क्या ? दिन भर लड़ती हैं । ऐसी-ऐसी गालियाँ देती हैं कि कहा नहीं जा सकता ।'

वृद्ध सारथी मारुत हँसा और बोला : 'और राजकुमारी ! साँझ होते ही सब मिलकर बैठ जाती हैं और गीत गाती हैं और जब गीत खतम होने को होते हैं तो फिर लड़कर अलग होती हैं !'

जरिता ने समझाया : 'नीच लोग हैं । बुनकर, बुनकर । इनका क्या छोटी स्वामिनी ! गाली तो ऐसी देती हैं कि सुनने से कानों में आग लगती है । हम तो आप जैसों के पास रहती हैं, वहाँ रहने से अब हम भी सुनती हैं तो शरम आ जाती है । सच ! पुरुष भी लजा जायें, मगर इन्हें रोक नहीं । जो मन आये बक जायें ।'

मैंने पूछा : 'पर लड़ती क्यों हैं ?'

'गँवार हैं,' सारथी ने कहा : 'पुरुष को तो धन्धा करना पड़ता है । सब तरह के लोगों से काम पड़ता है, घर के बाहर रहता है । इन्हें क्या है ? दिनभर घर रहना । खाना, पीना और झगड़ना । छोटी-छोटी बातों पर लड़ाई हो जाती है । बच्चे सीखते हैं ।'

'और छोटी स्वामिनी !' जरिता ने कहा : 'ऊधम तो तब होता है इनका, जब इनके पति लौटते हैं । बहुधा तो वे तरह दे जाते हैं, पर कभी कोई उबल पड़ा तो

फिर तो लट्ठ बज जाते हैं। ऐसी आग लगा देती हैं यह स्त्रियाँ।'

रथ अब खुले मैदान में आ गया था। दोनों तरफ़ पेड़ों की बड़ी अच्छी हरियाली दिखाई दे रही थी। उनपर कोसल पक्षी उड़ रहे थे। मुझे बड़ा अच्छा लगा। मैंने कहा : 'जरिता ! देख यह जगह कितनी सुंदर है। दूर तक फैले हुए खेत। कैसी कालीनों से भर गई है धरती। तरह-तरह की हरियाली है। मखमली, रेशमी, और सब कितनी प्यारी है।'

'हाँ बिटिया !' जरिता ने कहा : 'तुम अच्छी हो तो सब अच्छा लगता है।'

मैंने कहा : 'जरिता ! वह छोटे-छोटे घरों वाला गाँव वहाँ कैसा प्यारा लगता है, उन घने पेड़ों की छाया में। एक बार गाँव तो मैं चलूँगी। चलो अभी चलें।'

'फिर कभी चलेंगे बिटिया ! सैनिक भी साथ लायेंगे। ऐसे जाना ठीक नहीं है।'

'नहीं। ठीक क्यों नहीं है ? ज़रूर ठीक है।'

'देखो बिटिया। हठ नहीं करते, मैं बड़ी हूँ न तुमसे ?'

'तो क्या हुआ ? जरिता अम्मा ! तू तो बड़ी अच्छी है। चलने में दोष ही क्या है ?'

'लेकिन बिटिया ! महारानी मुझे कितना डाटेंगी। मुझे बंदीगृह में डलवा देंगी।'

'और मेरी तो नौकरी चली जायेगी !' सारथी ने कहा।

'नहीं, कुछ नहीं होगा। तुमसे अम्ब कुछ नहीं कहेंगी। मैं समझा लूँगी। कह देना : हम क्या करते ! मालकिन ने आज्ञा दी। जाना पड़ा।—ठीक है !' मैं हँसी तब वे दोनों भी मुस्कराये।

'चल भैया मारुत ! कैसे करूँ। मेरा तो जी भीतर ही भीतर काँप रहा है। महारानी कहेंगी कि बिटिया तो बच्ची है, तुम क्यों गये ! चल मारुत ! जो होगा सो झेलना ही पड़ेगा।'

रथ उड़ने लगा।

मारुत ने कहा : 'पर राजकन्ये ! वह गाँव दूर से ही अच्छा लगता है। पास से नहीं लगेगा। गाँव के घर कच्चे होते हैं। आपकी-सी सफ़ाई वहाँ कहाँ ? रास्ते कच्चे हैं। दो-चार ब्राह्मण पुरोहित होंगे ; वैसे तो अधिकतर मोटे कपड़े पहने मिलेंगे।

और फिर अभी एक दृश्य देखा था न ? वैसा ही होगा वहाँ भी । और जब जानेंगे कि स्वयं राजकुमारी आई हैं तो और घबरा जायेंगे ।'

मैंने कहा : 'तो यह कहने की क्या जरूरत है कि हम कौन हैं ? वैसे ही नागरिक हुए एने बचते हैं । बताना नहीं कुछ ।'

जरिता ने माथे पर हाथ लगाकर कहा : 'खूब कहती हू बिटिया भी ! बताना ही नहीं । ऐसी सुंदरता है तुम्हारी, मिलेगी कहीं ढूँढ़े से ! कैसे छिप जायेगी ?'

'नहीं, बताना नहीं !'

रथ गाँव पहुँचा । मैंने कच्चे घर देखे । हम उतर गये ।

'मारुत उस पेड़ के नीचे ठहर जा ।'

'नहीं राजकन्ये ! मैं भी चलता हूँ ।'

'अरे तू खाली बिटिया कह ।'

जरिता और मारुत ने एक दूसरे की ओर विवशता से देखा । दिन का समय था । पुरुष खेतों में थे । एक-आध बूढ़ा किसी पेड़ के नीचे खटोले पर पड़ा था और बुढ़ापे और मक्खियों को पाल रहा था । कोई-कोई बुढ़िया चर्खा चला रही थी । एक युवती ने देखा तो पास आ गई ।

पूछा : 'कौन हो तुम लोग ?'

जरिता ने मेरी ओर देखा ।

मैंने कहा : 'ऐसे ही घूमने चले थे । प्यास लग आई । पानी है ?'

'अरे पानी की क्या कमी ! किसी बड़े घर की लगती हो ! ब्याह हो गया ?'

जरिता ने कहा : 'नहीं ।'

'हाय दैया !' उसने कहा : 'इतनी बड़ी लड़की का ब्याह नहीं हुआ !' फिर व्यंग्य से कहा : 'बड़े घर की ठहरीं ।'

कुछ बच्चे भी आकर इकट्ठे हो गये । छोटे बच्चों की नाक बह रही थी ।

'पानी तो ला !' जरिता ने कहा : 'कौन जाति हो तुम लोग ?'

'हम क्षत्रीय हैं ।' स्त्री ने गर्व से कहा और कलसा-रस्सी लेकर कुएँ की ओर चली गई ।

मैं देखती रही । बच्चे मुझे कौतूहल से देख रहे थे । तभी एक बोला : 'नानी!

नानी आलई है ।'

देखा मैंने । सफ़ेद ऊन के-से बाल । चेहरे पर झुर्रियाँ, हाथों पर हड्डी और नसों का उफान । आँखों में कीचड़ । मुँह में दाँत नहीं । बैठकर खिसकती थी । सिर झुका हुआ था, पर उसे आँखों से तो दीख रहा था । मुझे उसपर बड़ी दया आई । उसने मेरी ओर हाथ उठाया और आँखों में आँसू भरकर कहा : 'वह राक्षसी कहाँ गई ! ओ मुझे कोई मार डालो । यह नहीं रहने देती मुझे ।'

उसकी आवाज़ बड़ी भर्राई-सी थी । और ऐसा लगता था जैसे गले में कफ़ अटक रहा था । मैं अत्यन्त दुखी हो गई उसे देखकर । उसकी ओर बढ़ी और कहा : 'क्यों ? क्यों रोती है तू ! तुझे क्या दुःख है ?'

बुढ़िया शायद ऊँचा सुनती थी । उसने शून्य दृष्टि से मुझे देखा । जरिता ने ज़ोर से कहा : 'स्वामिनी पूछती हैं कि तुझे क्या दुःख है ?'

इतना सुनना था कि बुढ़िया रोने लगी और बड़बड़ाने लगी । उसकी कोई-कोई बात मेरी समझ में आती थी : मुझे मार डालो· · ·यह राक्षसी मुझे रहने नहीं देती· · ·यह मुझे खाने को नहीं देती· · ·यह मुझे तरसा-तरसाकर मारती है· · ·

बच्चे यह देखकर शोर करने लगे । तब बुढ़िया धूल उठाकर उनपर फेंकने लगी और कोसने लगी : 'तुम मर जाओ· · ·तुम्हारे माँ-बाप को कुत्ते खायें· · ·

इसी समय मँजे हुए कलसे में पानी लेकर वह युवती लौट आई । उसे देखकर बुढ़िया थरथर काँपने लगी । वह युवती ऐसी लाल-लाल आँखों से घूर रही थी कि मैं देखकर चौंक गई ।

मैंने कहा : 'क्या बात है ! यह कौन है ? तू इसे ऐसे क्यों घूरती है ?'

बुढ़िया की कमर दोहरी हो गई थी और उसने कुहनियाँ टेककर सिर धरती पर टिका दिया था ।

युवती ने कर्कश स्वर से कहा : 'चल भीतर !'

उस स्वर में जाने कैसा आतंक था कि वह बुढ़िया खिसकती-खिसकती घर के भीतर चली गई । तब युवती ने बच्चों को फटकारा : 'चलो भागो यहाँ से !'

बच्चे डरकर भाग गये । उस स्त्री का ठाठ मैंने देखा । कलसा रखकर उसने कहा : 'लोटा और लाऊँ ।'

बुढ़िया अभी खिसककर द्वार लाँघ पाई थी। युवती भीतर गई और कहा : 'अभी यहीं है कुतिया !'

एक लात मारी कि बुढ़िया घिघियाकर चिल्लाई और तब युवती भीतर से लोटा ले आई और माँजकर पानी भरकर बोली : 'लो आर्ये।'

मैं खड़ी थी। जरिता ने एक खटोला डाल दिया, युवती के ओटे से उठाकर। मैं बैठ गई और पानी पीने लगी।

युवती ने कहा : 'ताजा है कुँए का।'

मैं तो कुछ और ही सोच रही थी। पूछा : 'क्यों री, यह बुढ़िया कौन है? तूने इसे लात क्यों मारी ?'

'आर्ये !' युवती ने कहा : 'यह बड़ी चालाक है।'

और फिर वह चिल्लाई : 'ओ तुझ मौत भी नहीं आती ! निगल जायें तुझे नरक के दूत !'

मैं देखती रही।

जरिता ने कहा : 'अरी, क्यों बुढ़िया को सताती है, यह तेरी है कौन ?'

'यह !' युवती ने घृणा से कहा : 'मेरी माँ की माँ है, मेरी नानी !'

'नानी !' मैंने कहा : 'और उससे तू ऐसे बात करती है ?'

युवती ने मुझे ताका और कहा : 'यह नानी है ?' वह घृणा से हँसी और बोली : 'इसकी तो बोटी-बोटी काटकर चील-कौओं को खिलानी चाहिये। इसने तो ऐसे-ऐसे पाप किये हैं कि कुछ पूछो नहीं। पर यह घर की बात है, तुम्हें क्या बताऊँ !'

मुझे उत्सुकता हुई। कहा : 'घर की बात है तभी तो हमारे सामने तूने पिशाची की तरह उस बुढ़िया को लाचार जानकर लात मारी है !'

स्त्री झल्ला उठी। बोली : 'मैं पिशाची हूँ और यह सती है ! यह पापिन ! अभी क्या है ! अभी तो इसकी आँखें फूटेंगी, फिर अंग-अंग में पीब पड़ेगी, जिनमें कीड़े डोलेंगे। तब यह भूखी-प्यासी पड़ी-पड़ी मल-मूत्र में लिसड़-लिसड़कर तड़प-तड़पकर मरेगी। मैं पिशाची हूँ ? यही तो इस पापिन का कमाल है। जवान थी तब रूप के बल पर लोगों को छला और अब बूढ़ी है तो बुढ़ापे के बल पर छल

रही है। और मैं पिशाची हूँ ! हे ईश्वर ! हे सिरिमा यक्षी ! यह पापिन नहीं मरी, लोगों के जवान और होनहार बेटे मर जाते हैं। अरे खाये बैठी है यह अपने तीन-तीन बेटों को। इसके पाप ने सबको खा लिया, सबको चबा गई यह राक्षसी !'

मैंने उस अंधविश्वास को देखा और कहा : 'यह खा गई या उन्हें उनका कर्म-फल खा गया !'

'कर्मफल कहाँ से आया आर्ये ! मैं तो इसके कर्म जानती हूँ। इसने मेरी माँ के विधवा होने पर उसे दासी की तरह घर में रखा।'

'अपनी बेटी को !'

'बेटी खास कहाँ थी। सौत की बेटी थी न ? बैलों से भी ज्यादा काम लेती थी उससे। वह बिचारी बड़ी सीधी थी।'

युवती की आँखों में पानी आ गया। उसने फिर कहा : 'तीन-तीन बेटे थे इसके। इस कुलटा ने चालीस साल की आयु में एक मित्र बनाया अपने वैधव्य में। जार ! व्यभिचारिणी ! और इसे जब मेरे एक मामा ने देख लिया तो उसे विष देकर मार डाला। ऐसी थी यह व्यभिचारिणी ! अब सती हो गई बूढ़ी होकर। दो मामा और थे। उनमें से एक ने अपमान और लज्जा से आत्महत्या कर ली। तीसरा ज्वर से मर गया। तीनों की विधवाएँ रह गईं। एक कुँए में कूदकर मरी, इसके अत्याचारों से तंग आकर। एक वेश्या बन गई, इसके भयानक दण्डों से। उसकी हथेलियों पर यह अपनी खाट के पाये रखकर सोती थी ! तीसरी मेरी माँ के साथ दिन काटती रही किसी तरह। उसके एक पुत्र था न ? जब हम दोनों बड़े हुए तब इसने मुझे यहाँ ब्याह के नाम पर बेच डाला, और तब इसका समय बदला। मेरा ममेरा भाई जब जवान हो गया तो उसका ब्याह हुआ और बहू आई तो उसने इसके नाकों चने चबवा दिये। तब इसने उसपर लांछन लगवाया अपने पुराने जार के पुत्र द्वारा। वह बिचारी पवित्र थी। मर गई लज्जा से। इसने जार के पुत्र को छिप-छिपकर घर लुटा दिया। मेरी माँ और मामी भी मर गईं। ममेरा भाई अकेला रह गया। तब इसने उसे धतूरा खिलाकर पागल कर दिया और बैठी रही। अंत में जारपुत्र ने सारी भूमि को हड़प लिया। जब भूखी मरने लगी तब यहाँ आ गई निर्लज्ज और

यहाँ मेरा जीवन इसने नरक कर दिया है। रोज इधर की उधर भिड़वाती है। यह है राक्षसी या मैं हूँ? क्या दिया है इसने मुझे जो बिठाकर इसको चराऊँ? जरा इधर गई कि चुपचाप बच्चे के लिये रखा दूध पी जायेगी। वनदेवता के लिये मैंने दीप जलाने को घी निकाला और दीवट माँजने गई; लौटी तो घी चट कर गई। कहने लगी : बिल्ली खा गई होगी।——पड़ोस के बच्चों से कहती है : सब मर जाओ! सबकी लाशें निकलें।'

मैं काँप उठी।

उसने फिर कहा : 'जाने किस जन्म का पाप है कि मैं भोग रही हूँ। जी तो करता है इसे दराँती से काट दूँ, पर मुझे पाप लगेगा। जो भोगना है सो इसी जन्म में भोग लूँ। हे ईश्वर! अगले जन्म में मुझे स्त्री नहीं बनाना। एक दिन भी इसके कारण स्वामी को सुख नहीं दे सकी। घर से निकाल दूँ तो राह पर भीख माँग-माँग कर हमारी बदनामी करती है· · ·

उसने आँखें पोंछी। और मैंने देखा बूढ़ी भीतर एक स्तंभ से टिकी बँधी थी। कैसी दयनीय लग रही थी वह!

जरिता ने कहा : 'चलिये राजकन्ये! देर हो जायेगी।'

'राजकुमारी!' युवती चौंक उठी और उसने झपटकर मेरे पाँव पकड़कर कहा : 'अब तक बताया भी नहीं! मैं नहीं जानती थी तभी अपराध हुआ। क्षमा करिये राजकुमारी! कुछ भी सम्मान नहीं कर सकी मैं!'

मैंने कहा : 'सम्मान तो तूने किया! पानी पिलाया न?'

'राजकुमारी! दीन के पास और था ही क्या जो देती। सच! मैं बहुत दुखी हूँ।' यह कहकर वह रोने लगी।

मारुत रथ की ओर बढ़ चला।

मैंने उसे अपना कंकण उतारकर दिया और कहा : 'तेरा नाम क्या है री?'

'सुखी रहें। महाराजा से ब्याह हो। स्कंद-से पुत्र की माता बनें। पति-प्रेम मिले!'

'तेरा नाम?'

'मैं स्वामिनी? मेरा नाम है कपिला।'

'देख ! बूढ़ी को उसके पाप भोगने दे।'

'मैं क्या रोक सकती हूँ ?'

'उसे मारा मत कर।'

'नहीं मारूँगी राजकन्ये ! पर उसने जो किया है वह क्या दण्ड के योग्य नहीं है ?'

'है अवश्य ! पर पाप-पुण्य का फल विधाता देता है न ?'

उसने स्वीकार किया।

मैं रथ में चढ़ गई। कपिला ने फिर मेरे चरण छुए। रथ चल पड़ा। मैं सोचने लगी। बोली : 'जरिते अम्मा ! यह भी क्या स्त्री थी ! बूढ़ी ! स्त्री भी ऐसा कर सकती है क्या ? स्त्री इतनी भयानक भी हो सकती है ?'

जरिता ने कहा : 'राजकन्ये ! स्त्री क्या नहीं कर सकती। कहावत भी तो है कि स्त्री क्या नहीं कर सकती ? स्त्री के पीछे तो संसार में बड़े-बड़े अनर्थ हुए ह। स्त्री ने तो भीषण संहार कराये हैं। पुरुष जाति मूर्ख होती है। उसको नचाकर स्त्री ने स्त्री पर तो ऐसे-ऐसे अत्याचार किये हैं कि कुछ पूछो नहीं।'

और जरिता ने बात बदलकर कहा : 'बिटिया ! देखो कितनी देर कर ली तुमने। महारानी अब मुझपर क्रुद्ध होंगी। मैं क्या कहूँगी ?'

'अरी तू क्यों डरती है ?' मैंने कहा : 'मैं अम्ब से कह दूँगी। हाँ, एक बात बता। स्त्री ऐसा क्यों करती है ?'

'भाग्य है बिटिया ! कौन क्या करता है ? पाप हैं पाप। पलट-पलटकर आते हैं। प्राणी भोगता है, तभी तो ऐसा कठोर हो जाता है हृदय।'

'तूने देखा है किसी और को ?'

'क्यों नहीं देखा ! मेरे ही बचपन की बात है। पड़ोस में एक वैश्य रहता था। साधारणतया खाता-पीता था। पर उसके पास ऐसा बहुत धन भी नहीं था। उसकी स्त्री बड़ी रँगीली थी। अहंकार तो उसमें इतना अधिक था कि कहा नहीं जा सकता। उस वैश्य की माँ थी। बिचारी बहू को बहुत प्यार करती थी। मैं उसके पास जाया करती थी। उसने बड़ी-बड़ी मुसीबतें झेलकर उस वैश्य को पाला था। राजकन्ये ! माँ का हृदय कितना अच्छा होता है।! चक्की पीस-पीसकर उसने पति

मर जाने पर अपने इस पुत्र को पाला था। उसकी बड़ी-बड़ी साधें थीं। कहती थी : जब मेरा किंजल्क बड़ा हो जायेगा तो मैं इसका अच्छे घर में ब्याह कर दूँगी। फिर बेटे और बहू के घर में आराम से रहूँगी। फिर थोड़े ही मुझे काम-वाम करना पड़ेगा ? फिर तो किंजल्क के बच्चों को कहानी सुनाया करूँगी।——राजकुमारी ! सच तो यह है कि उसका पति बड़ा अच्छा था। उसकी सास भी अच्छी थी। इतनी अच्छी कि वह अपनी सास को माँ कहती थी। लेकिन अच्छे लोग संसार में जल्दी मर जाते हैं, जाने ऐसा क्यों होता है। किंजल्क जब छोटा ही था, तब अचानक ही इसके बाप और इसकी दादी का देहांत हो गया। बिचारी किंजल्क को छाती से लगाये अकेली रह गई। परंतु उसने मिठास देखी थी, दैव का खेल समझकर फिर जुट पड़ी। किंजल्क बड़ा हुआ। कमाने भी लगा। तब उसने किंजल्क के लिये अच्छा घर ढूँढकर बहू खोज डाली और ब्याह भी करा दिया। बहू पहले तो ठीक रही। पर जब उसके पुत्र हो गया तो रंग ही पलट गई। पड़ोसिनों ने उसे बहका दिया। क्या कसूर था किंजल्क की माँ का ! केवल एक, कि वह बहुत अच्छी, सीधी और स्नेह करने वाली थी। राजकुमारी ! लोक में अच्छी सास का मिलना पूर्वजन्म के पाप-पुण्य पर निर्भर होता है। किसी-किसीको ही अच्छी सास मिलती है। अपने पुत्र पर दूसरी स्त्री का शासन स्त्री सहज नहीं सहन कर पाती। प्रायः सास की दृष्टि में बहू केवल बच्चे पैदा करने और काम करने के लिये होती है। और प्रायः ही बहू अपनी सास को लड़ाका मानती है जो अपने बेटे को निरंतर भड़काया करती है। राजकुमारी ! सदा से ऐसा ही होता आया है। बहू आती है तब सास तंग करती है। जब वही बहू सास बन जाती है तब अपने बेटे की बहू से बदला लेती है। क्या कहूँ ! पुरुष को युवती स्त्री अच्छी लगती है, इसलिये बुढ़िया को युवती से इसी बात पर काफ़ी चिढ़ होती है। लेकिन कोई-कोई सास तो बहुत अच्छी होती है। किंजल्क की माँ ने मेहनत-मजूरी की थी, इसलिये उसमें एक तरह का स्वाभिमान आ गया था। अकारण किसी के बीच में नहीं बोलती थी, न झूठा स्नेह दिखाती थी। नतीजा यह हुआ कि बहू का तनाव बढ़ता गया। किंजल्क की माँ सब सहती रही। नौबत यहाँ तक आ गई कि एकबार किंजल्क ने अपनी माँ को मारा, बहू के भड़काने से। बिटिया ! तुम सोच सकती हो, ऐसे समय में माँ के हृदय पर क्या

बीतेगी ? मैं तुम्हारे घर की दासी हूँ, तुम्हारा दिया खाती हूँ, तुमसे ही मेरा जीवन है; अब यदि मैं ही तुमसे कभी विश्वासघात कर जाऊँ तो ? क्या बीतेगी तुम्हारे मन पर ? यही न कहोगी कि संसार में कोई अच्छा हो ही नहीं सकता ! परंतु वह बुढ़िया इतनी अच्छी थी कि उसने फिर भी बदला नहीं लिया। बहू ने उसे चिढ़कर घर से निकलवा दिया। लोगों ने किंजल्क की निंदा नहीं की, उल्टे बुढ़िया पर ताने मारने लगे। पर वह सब सहती रही, सहती रही। उसने फिर नौकरी कर ली। वहाँ उसे दासियों की तरह जीवन बिताना पड़ा और मर गई।'

जरिता ने आँखें पोंछकर कहा : 'राजकन्ये ! इस संसार में तरह-तरह के लोग होते हैं। अच्छे लोग दुःख पाते हैं और बुरे लोग बड़े चैन से रहते ह। यह कुछ समझ में नहीं आता। ऐसा क्यों होता है ?'

मारुत ने कहा : 'जरिता ! ऐसा तो होता है, पर एक बात क्यों भूल जाती है कि अच्छा-बुरा देखने वाले हम, इसी जन्म को देखते हैं। पर जन्म एक ही तो नहीं होता। पुराने जन्म की याद कहाँ रहती है ? यह जो कुछ है, वह इसी जन्म की नहीं, पुराने की भी तो कड़ी है; इसीलिये दैव की गति समझ में नहीं आती। नहीं तो कोई धनी क्यों होता है, कोई दरिद्र क्यों होता है ? कोई श्रेष्ठि परदेस जाता है, तो उसका सब कुछ लुट जाता है, कोई घर बैठे इतना लाभ कमा लेता है, कि उसका कोई अनुमान नहीं कर पाता।'

'ठीक कहता है तू मारुत भैया ! ऐसा ही न होता तो क्यों तुझपर ऐसी मुसीबत आती ! तूने कब किसीको सताया ?'

मैंने पूछा : 'जरिता अम्मा ! सारथि को क्या हुआ ?'

'कुछ नहीं बिटिया,' मारुत ने कहा : 'तुम क्यों दुखी होती हो, अभी से ? अभी तो तुम्हारे खेलने के दिन ठहरे। यह दुःख-सुख तो चला ही करते हैं।'

'बता न मारुत ! क्या बात है !' मैंने कहा।

'बात कुछ नहीं,' मारुत ने लंबी साँस लेकर कहा और फिर चुप होकर रथ चलाने लगा। उसकी वेदना समझकर जरिता ने कहा : 'हला बिटिया ! बिचारे के तीन बेटियाँ हैं और तीनों का इसने बड़े चाव से ब्याह किया। महाराज ने स्वयं इसे धन दिया। महाराज के अन्तःपुर तक जिसकी पहुँच हो उस भाग्यशाली को

किसकी कमी ! लेकिन भाग्य में तो कुछ और ही लिखा था !'

मैंने पूछा : 'क्यों ? विधवा हो गईं तीनों ?'

'छि: छि: बिटिया! ऐसा न कहो। बाप का मन है। पर वैसे क्या कम दुःख है। यही समझ लो। बड़ी वाली तो इतनी बीमार पड़ी, इतनी बीमार पड़ी कि उठने-बैठने से लाचार हो गई। तब पति उसके जीते में ही दूसरा ब्याह कर लाया। और वह अभागिन मरने की बजाय उठ बैठी। देखा कैसा खोटा भाग था ! अब उसकी सौत तो राज करती है और इसकी बिटिया घर में दासी बनकर रहती है, सौत के पाँव दबाती है।'

मारुत ने कहा : 'कुछ भी हो जरिता ! पति के पास तो है ही। आखिर किसी दिन तो नई बहू का जादू कम होगा। इसकी सेवाएँ भी असर लायेंगी। कभी तो इसके भी दिन पलटेंगे ही। आई थी घर। बहुत रोई। तब उसकी माँ ने कह दिया कि बेटी ! अब तो तेरे लिये अगर कोई जगह है तो तेरे पति का ही घर है। जो हो वहीं भोग। दैव ने चाहा और तुझे पुत्र दे दिया, तो शायद फिर तू पति की आँखों में चढ़ जाये! --बिचारी बिटिया! बड़ी सेवा करती है। सब सो जाते हैं तब आधी रात तक छोटी बहू के पाँव दबाती है। भला उसने ऐसा क्या पाप किया होगा !'

मारुत का स्वर भर्रा गया।

जरिता कहने लगी : 'बिटिया ! राजकन्ये ! इस अभागे की क्या कहूँ ? दूसरी बिटिया है। भरा-पूरा घर था। पति ही कमाने वाला था। जाने क्यों उसका मन फिर गया। एकदम उसका दिमाग फिर गया। घर छोड़कर संन्यासी हो गया जवानी में। अब सारा घर रोता है। वह है कि सबको माया कहता है। कहता है अजीब-अजीब बातें ! राजकन्ये ! मैं भी मिली हूँ उससे। यों कहता था : म कमाऊँ और यह सब बैठकर चरें। इनके लिये मैं पाप करके धन कमाऊँ और भोजन तो यह सब खायें; पर पाप अकेला मुझ पर लदे; क्योंकि भरण-पोषण करना मेरा कर्तव्य है। मैं क्यों पाप लादूँ अपने सिर पर। आत्मा तो किसीका संबंधी नहीं। यह संबंध तो इस लोक के हैं। कौन किसीका भाई है, कौन किसीकी स्त्री है ? सब अपने-अपने मायाजाल के संबंध हैं। अब घर भर भूखा मरता है। इसकी बिटिया

रोती है। पर वह घर की तरफ़ मुड़कर नहीं देखता। सास कहती है इसकी बिटिया से कि तेरे कुलच्छनों से मेरा बेटा घर छोड़ गया। जो कुछ मारुत मदद के लिये भेजता है, उसे वे सब खा जाते हैं और बिटिया को एक जून भी रूखा-सूखा नहीं मिलता है। राजकन्ये! चारों ओर दुःख ही दुःख है।'

मारुत ने कहा : 'बिटिया आई थी। माँ कहने लगी उसकी, बिटिया को यहीं रख लें।——मैंने कहा : मैं बूढ़ा, तू बूढ़ी। किसके बल पर रख लें। वहाँ कम से कम देवर तो हैं! बड़े होकर कमायेंगे तो सही। फिर बिटिया को रोटी का सहारा तो रहेगा।——अपने-अपने कर्म हैं। वह तो हम इसके लिये भोग नहीं सकते। फिर जवान लड़की को घर में रखना क्या कम खतरा है राजकन्ये? मैंने तो कह दिया : एक बार इस घर से तू गई तो गई। अब तो जीना है तो वहीं जी, मरना है तो वहीं मर। यहाँ तेरा क्या काम!——यह तो एक मौके की बात है कि यहाँ उनका कोई भाई नहीं। होता भाई, और आती उसकी बहू तो घर में ऐसी असहाय नन्द को झेल लेती? अपने घर में लड़की नहीं झेलती तिनके की चोट, सुसराल में झेल सकती है सूई की चुभन! ठीक है, जिसका जो नियम जहाँ है, वह वहीं ठीक लगता है। कुछ भी हो, बिटिया घर में रहे तो नतीजा अच्छा नहीं निकलता।'

मारुत ने लगाम ढीली की और खाँसा। जरिता ने कहा : 'और इसकी तीसरी बिटिया का हाल सुनाते तो मुझे रोना आता है। सच! ऐसा भी क्या?'

मैं सुन रही थी। अब कौतूहल और बढ़ा। कहा : 'उसको क्या दुःख है?'

'अच्छी-खासी ब्याह दी थी।' जरिता ने कहा : 'लेकिन अपने भाग्य में भी कुछ हो तब न? सारे झगड़े देखकर चुना एक ऐसा दूल्हा, जो अकेला हो। और बड़े लाड़ों पली बिटिया ब्याह दी उसे। खूब कमाता है उसका पति। लेकिन! ब्याह के बाद लगा वह मदिरा पीने। जूआ खेलने। शराब पीकर खूब मारता है बिटिया को। देह पर नील पड़ जाते हैं। लोग रोकते भी हैं। पर पति वह ही है। कोई क्या करे? स्त्री है उसकी। वह कुछ भी करे। ले आता है वेश्याएँ घर पर। बिटिया खाना परोसती है वेश्या को, फिर उसकी जूठी थाली माँजती है। नहीं करती तो मारता है उसे वेश्या के सामने और वेश्या हँसती है देख-देखकर! तरह-तरह के व्यभिचारी आते हैं उसके घर। बमुश्किल पड़ी है किसी तरह अपने को

बचाये हुए। मुझे तो डर है कि किसी दिन कोई उसे कलंकित न कर दे, उसे वह नीच कहीं बेच न डाले।'

'नहीं, नहीं,' मारुत ने काटकर कहा : 'मेरी बिटिया है! प्राण दे देगी मगर पाप न करेगी वह! एक बार उसका पति जूए में हार गया। द्यूताध्यक्ष (जूए-खाने का अधिकारी) उसे पकड़ ले गया। नियम से वह दास बन जाता। तब उसने मेरी बेटी को गिरवी रख दिया। सोच सकती हो कैसा पिशाच था वह! पति के लिये बिटिया ने वह भी स्वीकार कर लिया। जुआरी के घर दासी बनी कुछ दिन को। पति कह गया कि शीघ्र छुड़ा ले जाऊँगा। तब आँखें खुलीं जब दरिद्रता में वेश्या ने आँखें फिरा लीं और काम आई धर्मपत्नी ही। परंतु कितने दिन। विलासी की मनुष्यता तो मर जाती है। जुआरी के घर में बिटिया दिन काट रही थी। जुआरी की स्त्री उसे मारती। उसे डर था कि कहीं उसका पति इसे सँगा न ले। जुआरी ने एक दिन इसका हाथ पकड़ा तो बिटिया ने कहा : अभी जान दे दूँगी। न्यायालय में जाती हूँ। इज्जत पर हाथ नहीं डाल। ऐसा तू नहीं कर सकता। पति की गिरवी रखी हूँ, बेची नहीं। समझा? खून पी जाऊँगी!—तब वह दबा। इधर इसके पति ने फिर धन कमाया। चला पत्नी को छुड़ाने। पर द्यूताध्यक्ष ने पास में धन देख फिर से बहका दिया। फिर पड़ गया वह खेल में। काफ़ी हार गया और बाकी खा गई एक वेश्या। पत्नी को छुड़ा न पाया। आखिर मैं गया। छुड़ाई बिटिया। मगर क्या हुआ? उसके पति के रंग-ढंग नहीं बदले। मैं जाता हूँ तो कहता है : ले जा अपनी बेटी। मैं तो इससे वैसे ही तंग आ गया हूँ।'

मारुत ने घोड़े रोक दिये। प्रासाद आ गया। हम उतर पड़े। मेरा मन बहुत भारी हो गया था। सोचने लगी कि यह संसार इतना दुखी क्यों है? इतना पाप यहाँ क्यों है?

जरिता डरती हुई भीतर चली कि महारानी न जाने क्या कहेंगी। मारुत ने रथ मोड़ा और घुड़साल की तरफ़ बढ़ चला।

जब मैं भीतर पहुँची, अम्ब चंदन की चौकी पर बैठी थीं और सामने दो-तीन स्त्रियाँ थीं।

उपला को मैं जानती थी। वह माँ के पास आया करती थी। थी अब लग-

भग चालीस-पैंतालीस वर्ष की।

माँ शायद बातों में व्यस्त थीं। मुझे देखा तो टोका : 'कहाँ गई थी वसु ?'

और फिर देखा जरिता की ओर और फिर मुड़कर एक दासी से कहा : 'श्याभला ! इन्हें गये तो काफ़ी देर हुई थी न ?'

जरिता का मुँह सफ़ेद पड़ गया।

मैंने काटकर कहा : 'अम्ब ! मैं एक गाँव देखने चली गई थी।'

जरिता कुछ नहीं कह पाई। मैं माँ के चरणों के पास बैठ गई। वे हँस दीं और मेरे गाल पर हल्की चपत लगाकर कहा : 'बड़ी हठीली है तू ! इतनी देर ऐसे बिना अंगरक्षकों के घूमना क्या ठीक है ?'

मैंने कहा : 'क्या हुआ माँ ! वहाँ तो· · ·

'अच्छा, अच्छा !' माँ ने मुस्कराकर कहा और मुझे चौकी पर बगल में बिठाया। मैं माँ की कमर में हाथ डालकर उनके कंधे पर मुँह रखकर बैठ गई। माँ फिर उपला से कहने लगीं : 'देख उपला, तू हमारे महाराज को जानती है। मैंने ही पहले उनसे तेरे लिये कहा था। पर तू जानती है कि वे झूठ से कितना बुरा मानते हैं। उन्हें क्रोध नहीं आता, पर अगर आ गया तो· · ·

उपला काँप उठी और हाथ जोड़कर बोली : 'इंद्र, वरुण, अग्नि और यम की साक्षी है महारानी ! मैं झूठ नहीं बोलती। लड़की सामने बैठी है, आप ही इससे बातें कर लें। अगर झूठी है तो यह। मेरा क्या है ? विधवा हूँ। पति के रहते स्त्री सुख पाती है, सो मैं तो भोग चुकी। जो भाग्य में नहीं था, उसके लिये मैं रोती नहीं। पति महाराज के राज्य में ईर्ष्या के पात्र थे। छोटे पदाधिकारी थे, पर महाराज की कृपादृष्टि थी। उसीके बल पर उन्होंने संचय नहीं किया। सीधे और भले आदमी थे। कहते थे कि उपले ! ऐसे स्वामी से विश्वासघात करके मैं घूस नहीं लूँगा। वेतन ही अपना सहारा बनेगा। मैंने कह दिया था कि स्वामी ! मैं धन की भूखी नहीं, ईमान की भूखी हूँ। उन्होंने इस बेटी को ब्याहा था अपने आप। आज इस बिटिया का एक भाई है, मेरी कोख का ही जाया। बाल-बच्चे वाला युवक है। वह अंतःपुर के बाहर ड्यौढी पर बैठा है। यह लड़की है, आप स्वयं इससे पूछ लें।'

अम्ब ने कहा : 'हाँ री नीले ! यही बात है ? उसका जो दोषारोपण है वह झूठ है ?'

नीला ने कहा : 'महारानी ! वनदेवता मुझे मार डालें। आप मेरे भैया से पूछ लें। मैंने तभी उन्हें सूचना दे दी थी ।'

'सुना श्याभला ?' माँ ने दासी धात्रेयिका से कहा : 'अब इसमें क्या प्रमाण है ? भाई और माँ तो बहन-बेटी की तरफ़ बोलेंगे ही ।'

'महारानी,' श्याभला ने कहा : 'यह नीला बड़ी सीधी लड़की है। यह सच है कि काम में स्त्री को आगे-पीछे कुछ नहीं सूझता; यह भी सच है कि छल और छद्म में उससे कोई नहीं जीत सकता, पर उपला न कहे, नीला के लिये मैं कह सकती हूँ। मैंने तो इसके उस पति को देखा है। बड़ा नीच है !'

'नहीं, मौसी ।' नीला ने कहा : 'वे नीच काहे को हैं। नीच तो वह दारी है, जिसने उनपर जादू कर रखा है ।'

मैं सुनती रही। और नीला का यह व्यवहार मुझे विचित्र लगा कि वह पति की ओर फिर भी बोल रही थी। बात यों थी, जो बातों में मुझे पता चली। नीला पति के साथ रहती थी। पति की किसी अन्य स्त्री से मित्रता हो गई। उसने नीला को छोड़ दिया। तब नीला भूखी मरने लगी। उस समय नीला के भाई ने न्यायाधिकरण में वादी बनाकर नीला को खड़ा किया और महारानी ने भी न्यायकर्ता से कहलवाया। पति को अपनी धर्मपत्नी के भरण-पोषण के लिये धन देना पड़ा प्रतिमास। नीला अपने बच्चे के साथ वहीं एक घर लेकर दिन काटने लगी। बच्चे को पति ने ले जाना चाहा, क्योंकि स्त्री तो क्षेत्र ही ठहरी। परंतु एक तो वह दूसरी स्त्री नहीं चाहती थी बच्चे को, दूसरे नीला देना नहीं चाहती थी। माँ का अधिकार बच्चे पर तब तक माना भी जाता है, जब तक वह जवान न हो जाये; तो बच्चा उसीके पास रहा। इतनी तो थी पुरानी कहानी। अब नीला यह कहती थी कि तीन महीने पहले उसका पति सुधर कर आ गया था उस कुलटा को छोड़कर। नित्य सूरज डूबे, राज्यकर्मचारी तो है ही, काम समाप्त करके आता और सबेरे चला जाता। उसके इस छिपे रहने के बारे में नीला ने सन्देह करके पूछा भी तो उसने कहा कि वह कुलटा अभी उसके पीछे पड़ी है, इसलिये उससे बचने का और कोई

उपाय नहीं है। नीला सब दुःख भूल गई कि किसी तरह पति तो हाथ आया। भाई और माँ को ज़रूर एक नाई के ज़रिये ख़बर भिजवाई। नाई था मायके का। किसी काम से नीला के नगर में गया था। दो महीने हो गये तो एक दिन नीला जब कुएँ से पानी भरकर घर पहुँची, उसने देखा उसके आभूषण इत्यादि सब गायब थे। वह चोरी स्वयं उसके पति ने की थी। इस दौरान में नीला गर्भवती हो गई थी और पति, अन्त में पता चला, उसी कुलटा के घर था। अब वह धन नहीं देता था। नीला न्यायाधिकरण में फिर गई परंतु पति ने कहा कि वह इस व्यभिचारिणी को कुछ नहीं दे सकता। यह गर्भवती है और किसी जार से इसकी मित्रता है, जो इसका पति बनकर रहता है। साक्षियों से पूछा गया तो लोगों ने कहा कि नीला के पास अंधेरे-अंधेरे ही कोई आता-जाता तो था, पर कौन था यह पता नहीं चला। इधर के साक्षियों ने बताया कि नीला का पति बराबर कुलटा के पास रहता था, वह कहीं उसे छोड़कर नहीं गया। न्यायकर्ता ने नीला के पति को मुक्त कर दिया। अब वह नीला को कोई ख़र्चा नहीं देगा और नीला अब व्यभिचारिणी भी प्रमाणित हो गई। क्या करना चाहिये, यही बड़ी समस्या अटक गई थी। ऐसी बदनाम नीला को अब नीला की भाभी अपने घर में पनाह देने को तैयार नहीं थी, क्योंकि उसमें हेठी होती थी। नीला कहाँ जाये, क्या करे? अब वह यह चाहती थी, कि पतिगृह में दासी के रूप में रखवा दी जाये तो कम से कम अपने बच्चे और होनेवाले बच्चे को खाना तो मिल जाये, क्योंकि कैसा ही हो, आखिर तो वह बाप है इन बच्चों का! मगर वह कुलटा तो हाथ नहीं रखने देती।

जरिता ने सुना और कहा: 'कैसे भी घुस जा तू वहीं नीला! स्त्री का तो ठिकाना पति ही है। द्वार पर जाकर पड़ जा—भूखी-प्यासी। उस कुलटा के पाँव पकड़ ले।"[1]

---

१. उस युग में किसी भी अवस्था में यदि पुरुष स्त्री को भोजन-वस्त्र दे देता था तो स्त्री अलग से भरण-पोषण नहीं पा सकती थी; पर किसी भी तरह नहीं देता था, तो उसे न्यायालय दिलवाता था—कौटिल्य ने इसे प्रगट किया है। स्त्री नपुंसक पति का भी त्याग कर सकती थी। यदि पति उसे नहीं छोड़ना चाहता था तो उसे स्त्री को नियोग से संतान उत्पन्न कराने की आज्ञा देनी पड़ती थी।

अम्ब उठ खड़ी हुई। नीला ने उनके पाँव पकड़ लिये और रोते हुए कहा : 'देवी ! बस यही एक भीख माँगती हूँ। कुछ मेरे पति को डरा-धमकवा दीजिये कि वह मुझे पड़ा रहने की आज्ञा दे दें।'

श्यामला ने कहा : 'जा-जा ! यह काम मैं ही करा दूँगी। महारानी को इसके लिये कष्ट क्यों देती है। मैं ही आर्य कंचुक से कह दूँगी। वे कहलवा देंगे। अरे, इनकी भौं तेरी तरफ़ सीधी रहे तो सब तेरे लिये मंगलमय है। अब देख, मैं उस कुलटा को कैसा रंग दिखाती हूँ, जो तू मालकिन बनकर उसपर राज न करे !'

'पर', नीला ने बैठकर आँसू पोंछते हुए कहा : 'मेरा कौन साक्षी है ? मैं तो माँ बनने वाली हूँ।'

'हाँ, हाँ, तू माँ बन ! मैं कब रोकती हूँ ?'

माँ भीतर उठ गई। पीछे-पीछे चली गई जरिता।

श्यामला कहती रही : 'देख ! तू न्यायाधिकरण में फिर वाद ले जा। तेरी ओर से आर्य कंचुक के आदमियों से साक्षी दिलवाऊँगी। देख फिर क्या होता है !'

वे लोग श्यामला को प्रणाम करके उठे, और मेरे पैरों पर सबने सिर रखकर दण्डवत की और चले गये।

लगभग एक महीने बाद वे लोग फिर आये। नीला प्रसन्न थी। उसे फिर भरण-पोषण मिल गया था और अबकी बार उसके पति पर दण्ड और रख दिया गया था, जिसे तुरंत चुकाने को उसे कुलटा के आभूषण बेचने पड़े थे। इससे क्रुद्ध होकर कुलटा उसे छोड़ गई थी और वह अकेला रह गया था। अब पति अपनी नीला को लेकर फिर से घर बसाना चाहता था, परन्तु नीला के भाई उसे अलग रहने को कह रहा था। न्याय नीला के पति की ओर था। वह अपनी पत्नी को रखना चाहता था अतः रख सकता था। स्त्री को अब इस अवस्था में अलग रहने का कोई अधिकार नहीं था। नीला की माँ नीला के पतिगृह में जाकर बसने के ही पक्ष में थी। कहती थी : 'अब तो अवसर आया है कि जाकर उसे किसी तरह अपनी मुट्ठी में करे। स्त्री है। पति से अकड़कर कैसे रह सकती है? और अब तो वह खुले आम बुला रहा है। फिर छोड़ेगा तो न्याय फिर भी नीला की ओर रहेगा।' परंतु नीला का भाई कहता था कि किसी तरह भरण-पोषण मिले तो बहन स्वतन्त्र

रहे। पर न्याय कैसे बदले ! नीला की भाभी की इच्छा थी कि नन्द अपने घर जाकर बसे और रोज-रोज का कलेस बन्द हो। अपने-अपने घर स्त्रियाँ रहें तो ठीक। नन्द का बार-बार आना भी अच्छा नहीं। नीला की माँ कहती थी कि बेटी अपनी सुसराल गई भली। उसके भी अपने बच्चे हैं। तुम्हारे भी हैं। मैं उसके बच्चों को भूखा देख नहीं सकती, और तुम्हारे घर को उसके लिये लुटाना भी नहीं चाहती। बात अब थी नीला की।

'तू क्या चाहती है ?' अम्ब ने नीला से पूछा।

थोड़ी देर तक इधर-उधर देखती हुई वह हिचकिचाती रही और फिर माँ के पाँव पकड़कर रोती हुई लेट गई। और बोली : 'मैं क्या चाहूँगी देवी ! जैसा माँ को करते देखा, वही तो करूँगी। पति ही तो स्त्री का सब कुछ है।'

जब वे बाहर गईं नीला का भाई अकेला गुस्सा हो रहा था। बाकी स्त्रियाँ एक ओर थीं।

नीला पति के पास चली गई थी। यही धर्म था, यही ठीक हुआ था।

मैंने माँ से कहा : 'अम्ब ! नीला फिर चली गई ?'

'हाँ बेटी !' अम्ब ने कहा।

'क्यों अम्ब ?'

'न जाती तो कहाँ जाती बिचारी।'

'माँ ! क्या वह हमारे पास नहीं रह सकती थी ?'

'बिटिया ! लोग क्या कहते ? किसीके परिवार की बातों में हमें बोलने का मतलब ही क्या ?'

'स्त्री तो हैं न हम ? फिर स्त्री का पक्ष क्यों न लें ?'

माँ ने मुझे देखा क्षणभर। फिर कहा : 'हाँ बेटी, लेकिन पक्ष लेने से क्या हो जाता ? नीला क्या यहाँ रह जाती ?'

'क्यों नहीं रहती ! यहाँ उसे अच्छा खाना, अच्छे कपड़े मिलते। रथ में घूमती !'

माँ ने जरिता और श्यामला की ओर देखकर हँसकर कहा : 'बच्ची !'

जरिता ने कहा : 'और क्या देवी ! बिटिया क्या जाने कि स्त्री के लिये पति

क्या होता है।'

श्यामला बोली : 'बिटिया ! स्त्री को खाना-कपड़ा और सवारी ही काफ़ी हो जाती तो लोक में ब्याह क्यों होता ? काहे को उसे पराये घर जाकर रहने पर भी वह अपना ही घर मालूम देता !'

माँ चली गईं पिता के प्रासाद की ओर। मेरा चित्रकला सीखने का समय हो चला था। मैं चली गई चतुःशाल को पार करके चित्रशाला की ओर। मंगला मिली, दासी पुत्री। आचार्य करवीर मुझे चित्र बनाना सिखाते थे। उनका हाथ ऐसा सधा हुआ था कि खड़ी कूँची से जब रंग की रेखा खींचते तब पूरी रेखा ऐसी एक-सी चली जाती कि देखकर मैं दंग रह जाती। रेखा में न कोई अधिक मोटापन, न पतलापन। दो दासियाँ तो उनके लिये रंग तयार करने में लगी रहतीं। रंग के काले थे। हमारे सामने तो बड़े मीठे रहते, पर वैसे बड़े गर्वीले थे; किसीसे सीधे मुँह बात नहीं करते थे। मैं उनके प्रति, उनकी कला के प्रति आदर होने के कारण, बहुत विनयशीला बनकर रहती थी।

उन्होंने मुझे देखा तो कहा : 'आर्ये राजकन्ये ! आपने पटी को पूरा कर लिया ?'

मैं बैठ गई और कार्य प्रारम्भ हो गया।

मंगला भी मेरे पास बैठी पंखा करने लगी। आचार्य बोले : 'राजकन्ये ! आज तुमको एक नाटक सुनाऊँगा।'

'आर्य ने रचा है ?'

'नहीं कुमारी, मेरे एक शिष्य ने। वह चाहता है कि इसका अभिनय हो। नगर की रंगशाला में गया था, परंतु नये कवि को कौन पूछता है। उसने कहा मुझसे। मैंने कहा : मुझे दे। मैं इसे राजकुल को सुनाने की चेष्टा करूँगा। यदि वहाँ खेल लिया गया तो तेरा यह दारिद्र्य भी दूर हो जायेगा।—बिचारा पारिवारिक जीवन में बड़ा दुखी है।'

'क्यों गुरुदेव ! क्या कष्ट है उसे ?'

'कष्ट !' आचार्य ने कहा : 'राजकन्ये ! परिवार ही कष्ट है।'

मैंने कहा : 'गुरुदेव ! उसके माँ नहीं है ?'

'माँ सदा नहीं रहती राजकन्ये ! उसकी पत्नी है। उसे बहुत तंग करती है।'

'क्यों आर्य ?'

'स्वभाव है। इसका किसीके पास क्या इलाज है। कोई-कोई ऐसी भी होती हैं।'

'करती क्या है ?'

'शृंगार !'

'शृंगार तो सब करती हैं !'

'हाँ राजकन्ये ! शृंगार तो सब करती हैं, पर शृंगार कैसे होता है ?'

'आभूषणों से, अंगराग से। और···'

'वह मैं नहीं पूछता कुमारी ! उसके लिये किस चीज़ की ज़रूरत होती है ?'

'वस्त्रों की।'

'अरे मुख्य बात नहीं समझतीं ? धन की !'

'हाँ ! धन तो है ही। धन के बिना कुछ भी कैसे हो सकेगा। तो धन का क्या है ?'

आचार्य ने हँसकर कहा : 'बालिके ! धन का मूल्य तुम नहीं जान सकोगी। महाराज की कन्या हो न ? किंतु धन क्या लोक में सहज मिलता है ? धन क्या सबके पास होता है ?'

मैं समझी। पूछा : 'तो क्या कवि दरिद्र है ?'

'हाँ कुमारी ! कवि की आमदनी ही क्या ? माँ-बाप मर गये हैं। तब से दो भाई और चार बहनों का लालन-पालन उसीपर आ पड़ा है। पूरी गृहस्थी है बिचारे एक कवि की जान पर ! परंतु स्त्री है न उसकी; यह नहीं कि संग हिल-मिलकर रहे, निरंतर उससे झगड़ा किया करती है।'

'क्यों ?'

'कहती है मेरे लिये गहने ला। गहने ला। कहाँ से लाये बिचारा ? शृंगार-प्रियता भी स्त्री में किसलिये ? स्त्री का वह शृंगार तो अच्छा जो पति के लिये हो, परंतु जिस स्त्री का शृंगार पति के लिये मर्मान्तिक वेदना बन जाये, उस स्त्री का तो जीवन ही व्यर्थ है। और हालत यह है कि पूरा परिवार है, परंतु अपने पति के अति-

रिक्त उसे कोई दूसरा फटी आँखों नहीं सुहाता। पति से झगड़ती रहती है कि मुझे कोई सुख नहीं, मुझे कोई स्वतंत्रता नहीं, चैन नहीं। यह सारी सेना मेरे ही सिर आ पड़ी है। कवि कहता है: देख! मेरा काम तो तू जानती है कितना कठिन है? कविता लिखना। इसके लिये कितनी अधिक शांति की आवश्यकता है! —तो जानती हो क्या कहती है? अव्वल तो यह साहित्य का कार्य ही व्यर्थ है, जिसमें धन नहीं आता। औरों को देखो घरों में किस तरह रहते हैं। हमारे पास क्या है? हम क्यों दीन बनकर रहें! फिर अगर तुम्हें यही करना है तो मुझे भी अपने साथ लो। मुझे तुम ऐसे क्यों रखते हो परिवार में, सबके साथ एक डंडे से हाँककर। मैं तो तुम्हारे जीवन के साथ हूँ। मैं मदद करूँगी तुम्हारी। मुझे धन की भूखी न समझना। कहे देती हूँ।'

मैंने कहा: 'फिर यह तो उल्टी बात हुई!'

आचार्य ने कहा: 'यही तो जीवन की विचित्रता है जिसके बारे में मैं सोचा करता हूँ। क्या है यह परिवार! किसका उत्तरदायित्व कहाँ तक ठीक है? कवि है बिचारा। मेरा तो शिष्य है। मुझसे कुछ छिपाता नहीं। कहता था कि गुरुदेव! परिवार के सब लोगों से वह वंचना करती है। किसीको घी नहीं देती, खुद खा जाती है। सबका तिरस्कार करती है। स्त्री जब हठ करती है राजकन्ये! तब ब्रह्मा भी उसे ठीक नहीं कर सकते। और जब जरा कवि उसे राह पर लाने को समझाता है, तो कहती है: तुम मेरा अपमान करते हो क्योंकि तुम मुझे निस्सहाय समझते हो, क्योंकि मैं घर छोड़कर तुम्हारे घर आई हूँ। इससे तो अच्छा है कि मैं मर ही जाऊँ।—वह बिचारा मुझसे पूछता था कि अब ऐसे मैं करूँ तो क्या करूँ? भाई-बहिनों को निकाल दूँ? क्या मेरा उत्तरदायित्व केवल इस स्त्री के ही प्रति है या औरों के भी! घर में कभी भाई-बहनों में हँसता बैठता हूँ तो तुरंत अलग मुँह ढाँक कर पड़ रहती है। किसीकी प्रशंसा करता हूँ तो बाद में रोकर कहती है कि मेरा तो जीवन ही नष्ट हो गया। मुझे क्या पता था कि पति ही मेरी ओर से ऐसे उदासीन हो जायेंगे!——अब वह कवि इतना ऊब गया है जीवन से कि उसे किसी से मोह ही नहीं है। वैसे कुछ नहीं कहता परंतु मुझे डर है कि वह कहीं वैराग्य न ले ले। राजकन्ये! स्त्री का चरित्र बड़ा विचित्र है! किसी प्रकार महाराज को

यह नाटक दिखाकर बिचारे को कुछ अधिक धन दिलवा दो तो बच जाये । अन्यथा महाराज से कहकर उसे किसी दूसरे स्थान पर कहीं चित्र-वित्र बनवाने को भिजवादो । धन घर भेजता रहेगा, तो नित्य के कलह से तो बच जायेगा ।'

मुझे उस कवि-पत्नी पर बहुत रोष आया ।

मैंने कहा : 'आर्य ! नाटक तो सुनाइये ।'

वे नाटक सुनाने लगे । नांदी में ब्रह्मा की स्तुति थी । फिर सूत्रधार के निवेदन के उपरांत जरासंध प्रवेश करके कहता था : कहाँ है मेरी अप्रमेय शक्ति से स्पर्धा रखने वाला कोई वीर! फिर एक श्लोक था जिसे सुनकर मैं प्रसन्न हो गई ।—उस श्लोक के शब्द याद नहीं, तात्पर्य याद है :

देखो ! सिंधु की लहरें पवन क्यों उठा रहा है, जानते हो ? वह मेरी पगध्वनि से विक्षुब्ध होकर भागते समय उन्हें भी उठ-उठकर भाग जाने का संकेत कर रहा है । सूर्य अस्त और उदय की बेला में इतना रक्तिम क्यों दीखता है, जानते हो ? क्योंकि उसे दोनों ओर मेरे शत्रुओं के रक्त में से निकलना पड़ता है अतः वह मन ही मन भयभीत हुआ करता है ।

मैंने कहा : 'आर्य ! कवि तो बड़ा कल्पनाशील है ?'

'हे राजकन्ये ! किंतु अवसर नहीं मिलता । घर आये पुरुष, स्त्री मीठी बातें करे, तो उसका मन दुगना हो । कमाकर लाता है पुरुष, लालन-पालन करता है, उसका अहसान नहीं जताता, तुम्हारे लिये सबकुछ करता है । और तुम उसे ठीक से खाना भी नहीं खिला सकतीं । अरे ! किसान तो उस बैल की भी इतनी देख-रेख करता है जो उसके खेत जोतता है ! और पुरुष है ही क्या ? कोल्हू के बैल की तरह आँखों पर पट्टी बाँधे घूमता रहता है । किसलिये ? प्रेम और स्नेह के लिये, वात्सल्य के लिये । पुरुष स्त्री से विवाह करके न स्त्री पर अहसान करता है, न स्त्री ही पुरुष से विवाह करके पुरुष पर अहसान करती है । परंतु स्त्री जब तंग करती है, तब पुरुष घबरा जाता है और क्या करता है जानती हो ? घर छोड़कर भाग जाता है । यह जो कई लोग भागते दीख रहे हैं, सो किसलिये ? घरों में शांति नहीं है । या तो पुरुष और स्त्री दोनों अलग-अलग रहें, परंतु स्त्री पुरुष पर आश्रित भी हो, और फिर भी उसके सुख को सर्वोपरि न रखे, तो लोक नहीं चल सकता । अब

तुम अभी बच्ची हो। तुम्हें सब क्या बताऊँ मैं। बोलो ! यह काम करोगी न ?'

'मैं अभी पिता से मिलकर आती हूँ। आप चाहें तो मैं दे दूँ धन ! अभी माँ से माँग लाती हूँ। महारानी तुरंत दे देंगी !'

'नहीं बिटिया ! तुम्हारा मन बहुत अच्छा है। असल में माता-पिता का मन अच्छा हो तो बच्चे भी अच्छे होते हैं। मैंने तो राजकुल में कई लोग देखे हैं। अहंकार के मारे वे किसीको आदमी नहीं समझते। यहाँ मुझे कभी ऐसा लगता ही नहीं कि मैं किसी डरावनी जगह बैठा हूँ। बिटिया ! लोग राजकुल को भयानक समझ कर डरते हैं। परंतु हमारे महाराज ! वे तो देवता हैं ! अपने को जो प्रजा का सेवक कहे, वह क्या साधारण हृदय हो सकता है ? इसीलिये कहता हूँ कि महाराज से दान दिलाओ, अन्यथा महाराज और महारानी तो नहीं, पर और लोग कहेंगे कि बुड्ढा करवीर बच्ची राजकन्या को बहकाकर धन ले गया। बिटिया ! राजकुल के लोगों के पास कोई आने-जाने लगे तो लोग उससे मन ही मन जलते हैं। राजकुल में जितने सुख हैं बिटिया ! उतने ही दुःख भी हैं।'

आचार्य की बातें सुनकर मुझे अपने बारे में आश्वासन-सा हुआ।

मैंने कहा : 'आर्य ! तो मैं कल मिलूँगी पिता से।'

आचार्य जब चले गये तब मंगला ने कहा : 'स्वामिनी ! वह कवि मुझे मूर्ख लगता है।'

मैंने कहा : 'क्यों ?'

'उस स्त्री में दो चपत क्यों नहीं देता !'

'चपत ? स्त्री में ?'

मैंने कभी पति को स्त्री पर हाथ उठाते नहीं देखा था, सुना जरूर था। पिता कहते थे कि स्त्री को कभी मारना नहीं चाहिये। मैंने कहा : 'नहीं मंगला ! यह काम अनार्यों का है।'

'सब आर्यों का है। कुमारी ! जब कोई कहे से न माने तब समझ लेना चाहिये कि उसकी पीठ में सुरसुरी हो रही है। डंडे से ठीक हो जायेगी।'

मैं हँस पड़ी। मंगला ने कहा : 'वह पति क्या जो स्त्री को भी अपने काबू में न रख सके। मैं तो ऐसा पति देखना भी न चाहूँगी। वह पुरुष क्या जिसके सामने

स्त्री की इतनी हिम्मत हो जाये कि आँखें मिलाकर चकड़-चकड़ करने लगे। पुरुष! पुरुष माने स्वामी! स्वामी तो वह जिससे डर लगे। बिना डर के कभी प्रीत होती है? बच्चा भी माँ-बाप से तभी प्रीत करता है। मैं तो कहती हूँ कि मारने वाला हाथ ही रक्षा भी करता है।'

'तूने यह कहाँ से सीखा री?'

'सीखती कहाँ से? अंतःपुर में बातें करती हैं सेविकाएँ। सच! मिनमिनाता पति तो स्त्रैण होता है। वैसा पुरुष क्या सम्मान पा सकता है? कभी नहीं। दास और पति में अंतर ही क्या है। कुमारी! उस कवि को समझाने को कहें न आचार्य से!'

मैंने कहा: 'आचार्य इतने पढ़े-लिखे विद्वान हैं, मैं उनसे क्या कहूँगी?'

'क्या पढ़े-लिखे हैं जब इतना भी नहीं समझते!'

मैंने कहा: 'अच्छा! चल महारानी से पूछें।'

'चलो, अभी चलें।'

हम दोनों माता के पास पहुँचे। वे उस समय उद्यान में बैठी हिरनियों को अपने हाथ से दाना खिला रही थीं। हँसती हुई जरिता और श्यामला से बातें कर रही थीं।

मुझे देख माँ ने कहा: 'आ गई बिटिया! बैठ जा।'

मैं पास पड़ी स्फटिक की शिला पर बैठ गई।

मंगला वहीं नीचे बैठी और बोली: 'महारानी! आज मैं एक बात पूछने आई हूँ।'

'पूछ!' माँ ने कहा।

मंगला ने कहा: 'अगर कोई पत्नी पुरुष को तंग करे तो उस पति को क्या करना चाहिये?'

जरिता और श्यामला चौंकीं। पूछा जरिता ने: 'कैसे तंग करे?'

'परिवार में सब हों और स्त्री चाहे कि पति सबको छोड़ दे। और पति ही घर में अकेला कमाने वाला हो। उस पर ही सब निर्भर हों। वही बहनों की शादी करने वाला हो।'

महारानी ने सोचा और कहा: 'तू बता वसु! लगता है दोनों पहले से इस-

पर बात करके आई हो।'

जरिता ने कहा : 'देवी ! मंगला से भी पूछें।'

मंगला ने उत्तर दिया : 'मेरा तो सीधा उत्तर है। ऐसी स्त्री को तो पुरुष कुचल दे वही ठीक है।'

'कैसे कुचल दे !' श्यामला ने टोका। 'सीधा-सादा पुरुष है। स्त्री छल-फरेब करती है। रोती है, मरने का डर दिखाती है, तो ऐसे में वह क्या करे ?'

मुझे श्यामला की विचार-शक्ति पर आश्चर्य हुआ।

माँ ने कहा : 'तू बोल न बिटिया।'

मैंने कहा : 'मैं क्या जानूँ माँ ! मैं तो देखती हूँ कि विवाह में प्रायः दुःख होता है; स्त्री कुछ चाहती है, पुरुष कुछ चाहता है और झगड़ा होता है। स्त्री अपना-अपना ही चाहती है सब कुछ। पर पुरुष के ऊपर और भी उत्तरदायित्व होता है। वह कैसे छोड़ दे सबको ! बहनों की देख-भाल वह नहीं करेगा तो कौन करेगा ? स्त्री को स्त्री का तो पक्ष लेना ही चाहिये। बहनें कौन हैं ? स्त्रियाँ ही तो हैं ! अब इस स्त्री से घबराकर पुरुष अपनी बहनों को जल्दी-जल्दी घर से निकालेगा और वे जहाँ जायेंगी, सोचेंगी कि अपनी मौज के लिये हमारी भाभी ने हमें निकलवाया, तो हम अपनी नन्दों को क्यों न निकलवाकर मौज करें। माँ ! विवाह ही बुरा है !'

माँ हँस पड़ीं। कहा : 'सुनती है श्यामले ! क्या कहती है बिटिया !'

'ठीक कहती हूँ माँ।' मैंने फिर कहा : 'सारा परिवार है। इसमें पुरुष कमाकर लाता है। वह अहसान करता है। पर वह अहसान कहता नहीं।'

'शासन नहीं करता ?' जरिता ने पूछा।

'क्या शासन करता है ! कमाता है तो कमाने की वह मुसीबत जानता है। तभी कायदे से खर्च करने की बात करता है। उसमें हर कोई मनमानी खर्च करे तो वह कहाँ से लाये। अपने मन का खर्चा करना है तो स्त्री खुद कमाये। यह तो बड़ी लज्जा की बात है कि पत्नी उस धन को अपना समझे और गृहस्वामिनी बने। सब पर हुकूमत करे। बाकी लोगों को न दे। है न माँ ?'

जरिता ने कहा : 'बिटिया ! बहनों का क्या ! ब्याह हो जायेगा, अपने-अपने

पति के साथ चली जायेंगी। तब असल में पति का साथी कौन है?'

'तो फिर परिवार कहाँ रहा? मिलकर रहना तो तभी संभव होगा, जब हर एक अपनी मनमानी न करे, बल्कि यह देखे कि दूसरे को भी मुझसे लाभ हो रहा है। ऐसा नहीं करती, तभी तो स्त्री को लोग बुरा कहते हैं।'

मंगला ने कहा : 'तब तो जो मैंने कहा, वही ठीक है। ऐसे में पुरुष और करे भी क्या? स्त्री को दबा दे। जहाँ से गड़बड़ी हो रही हो, वहीं दबा दे।'

माँ ने लंबी साँस खींचकर कहा : 'बच्चियो! परिवार की समस्या सचमुच बड़ी अजीब है। तभी कहा गया है धर्मशास्त्र में कि स्त्री को स्वतंत्र नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि स्त्री की बुद्धि चंचल और विनाशकारिणी होती है। स्त्री बुरी होती है।'

'तो माँ!' मैंने कहा : 'स्त्री को ज्ञान क्यों न दिया जाये? उसे अच्छा क्यों न बनाया जाये? उसे व्यापक दृष्टि क्यों न दी जाये?'

श्यामला ने सिर हिलाया और कहा : 'वह तो ठीक है राजकुमारी! परंतु क्या पुरुष इतना ही अच्छा है? अच्छा तो दोनों को होना है। दोनों ही अच्छे होते हैं, और दोनों ही बुरे भी होते हैं।'

जरिता ने ठीक किया : 'पर श्यामले! अच्छे कम और बुरे ही दोनों में अधिक होते हैं।'

माँ ने कहा : 'स्त्री में सबसे बड़ा दोष होता है कि वह दूसरे के भाग्य पर जीवित रहकर अपना गर्व प्रगट करती है, तभी उसकी नीचता अखरती है। स्त्री मूलतः स्त्री की शत्रु होती है।'

माँ की बात ने श्यामला को कचोटा। बोली : 'देवी! आप ठीक कहती हैं पर पुरुष भी तो स्त्री को बहुत दबाता है। मैं बताऊँ। एक थी मेरी परिचित उब्बिरी। बड़ी पतिव्रता। परंतु उसके पति को न जाने क्यों उसपर अविश्वास हो गया। बिचारी घुट-घुटकर मर गई। ऐसी ग्लानि हुई उसे। मरते ही उसके, वह झट दूसरी स्त्री ले आया। उसकी माँ ने कहा : मेरे बेटे को क्या कमी! बहू का क्या? पाँव की जूती ठहरी। वह गई, यह आई। हाथ में धन चाहिये, सैकड़ों बाप अपनी लड़की लिये द्वार पर खड़े रहेंगे। वह तो मैं भली हूँ कि अपने घर में एक से

अधिक बहू नहीं रखती क्योंकि सौतों का घर नरक होता है।'

श्याभला ने चारों तरफ़ देखा और कहा : 'कहो देवी ! यह है स्त्री !'

मैंने पूछा : 'कौन-सी स्त्री ! यहाँ तो माँ भी स्त्री है। उसका पुत्र तो उसके कहने में है। माँ ने पाला है, तो वह इस अहसान को मानता है, विद्रोह नहीं करता। वह तो सीधा हुआ। बुराई की जड़ तो वह बुढिया है !'

जरिता ने हँसकर कहा : 'सुना महारानी ! घूम-फिरकर नयी पीढ़ी ने क्या कहा ? बुराई की जड़ बुढ़िया है। बुढ़िया ! खूब पकड़ी बिटिया ने !'

सब हँस पड़ीं।

जरिता ने ही फिर कहा : 'राजा मागंध था न ? बड़ा विलासी था। बलपूर्वक लड़कियाँ पकड़ ले जाता था। एक बार एक लड़की किसीकी वाग्दत्ता हो चुकी थी। ले गया पकड़कर ! किसीने कुछ नहीं कहा। वृद्ध पुरोहित ने कहा : स्त्री का क्या है ? क्षत्रिय धर्म है स्त्री का अपहरण। स्त्री भोग्य है।—जिसमें बल होगा, वही तो उसे रखेगा। लड़की के प्रेमी ने विद्रोह किया। राजा मागंध ने उसे सूली दे दी। तब लड़की छत से कूदकर मर गई। बताओ। स्त्री क्या प्रेम नहीं कर सकती ? स्त्री की एक बुराई तो सब देखते हैं। पुरुष की हजार बुराई छिपी रह जाती हैं। लोग कहते हैं। अरे वह तो राजा था। समर्थ था। समर्थ तो रानी भी होती है। वह क्या प्रजा के पुरुषों से ऐसा स्वेच्छाचार कर सकती है ?'

माँ ने सिर हिलाकर कहा : 'स्त्री समर्थ कहाँ होती है जरिते ! रानी समर्थ नहीं होती। रानी समर्थ होती है, क्योंकि राजा उसे समर्थ कहता है। रानी का अधिकार तो राजा के स्नेह के कारण चलता है। स्त्री गरीब हो, अमीर हो, वह होती भोग्य ही है।'

माँ के स्वर में जाने क्या था कि श्याभला ने कहा : 'देवी ! कैसी बात करती हो तुम ? आदर्श स्त्री ही तो रखती है। पुरुष बार-बार गिरता है, उसे कौन उठाता है ? देखो ! उच्च जाति के एक पुरुष ने एक वर्णसंकर स्त्री से संबंध जोड़ लिया। बात खुल गई तो प्रायश्चित्त करके बच गया। ऐसा ही एक उच्च वर्ण की स्त्री का हुआ। उसका निम्नवर्ण के एक पुरुष से संबंध हो गया। जातिच्युत कर दी गई। अपमान अलग सहना पड़ा। परंतु उसने उसे नहीं छोड़ा। लोक की मर्यादा तो बदलती

है। प्रेम और स्नेह की ज्योति स्त्री के कारण जीवित है। पुरुष उसे क्या जाने ? यों अच्छे-बुरे सब जगह होते ह। और असल बात तो यह है कि यह तो कर्मों का भोग है। इसमें क्या करेगा पुरुष, क्या करेगी स्त्री ?'

मैंने कहा : 'श्याभले ! कुछ भी हो यह सब ठीक नहीं है। परिवार को फिर से बनना है। स्त्री को अपने ऊपर से यह कलंक धोना पड़ेगा।'

'तो क्या स्त्रियाँ भी अब श्रमणी बनेंगी ?' उसने व्यंग्य से कहा।

मैंने पूछा : ' जब कर्मजाल में स्त्री-पुरुष दोनों हैं तो स्त्री अपनी मुक्ति का पथ क्यों न पकड़े ?'

जरिता ने धीरे से जाने क्या कहा कि मैं तो न सुन सकी परंतु श्याभला हँस दी। माँ ने मुस्कराकर उसको आँखों से डाँटा और मंगला, जो शायद समझी नहीं थी, या सुन नहीं पाई थी, व्यर्थ ही दाँत निकाले बैठी रही। उसके नेत्रों में शून्य दृष्टि थी जसे कुछ पल्ले नहीं पड़ा था।

माँ ने दाने बिखेर दिये और उठ खड़ी हुईं। उनके उठने पर हम सब भी खड़े हो गये।

दूसरे दिन मंगला ने मुझसे एकांत में कहा : 'राजकन्ये ! चलोगी नहीं ?'

'कहाँ ?'

'वह नाटक लेकर महाराज के पास ?'

'हाँ चलूँगी !'

'तो चलो।'

'पर इस समय वे अवकाश में कहाँ होंगे ? प्रजा के वाद आये होंगे। वे न्याय में लगे होंगे।'

'तो चलो उन्हें ही सुनेंगे। इस समय कोई ऐसा काम भी तो नहीं है।'

'मुझे भूख लग रही है। अभी घुड़सवारी करके आई हूँ। तूने क्या किया ?'

'वाह ! मैंने तुम्हारे लिये देखो कितना अच्छा बटेर पकाया है।'

'ला दे जल्दी।'

मैंने खाया और कहा : 'खाना तो स्त्री ही बनाती है। हमारे रसोइये कहाँ बना पाते हैं ऐसा ?'

उसने कहा : 'राजकन्ये ! लोक में सब स्त्री के हाथ का ही खाते हैं, केवल राजप्रासादों को छोड़कर। स्त्री का शासन इसीलिये चलता है कि वह खूब अच्छा खाना बनाती है। खाना तब अच्छा बनता है, जब बनाने वाले के मन में भी प्यार हो ! तभी प्यार उपजता है। राजकन्ये ! राजप्रासादों में अविश्वास भी तो अधिक होता है, क्योंकि खाने को प्यार की जगह धन बनाता है।'

मैं उठी और वस्त्र बदले। तब कहा : 'चल मेरी गुरू !'

मंगला ने जूते बाँध दिये और बोली : 'विरजा कब आयेगी ?'

'सुसराल गये ही कितने दिन हुए। पर कई दिन से सुनामा नहीं आई ?'

'वह तो पिता के साथ कहीं गई है।'

जब हम पिता के प्रासाद में पहुँचे, वे एक सिंहासन पर बैठे थे। सामने चौकी पर कार्यस्थ बैठा था। और दो-एक उच्च राजकर्मचारी थे, कुछ सेवक थे।

मैंने पिता को प्रणाम किया।

उन्होंने देखा और कहा : 'आओ राजकन्ये ! बैठो। हम इस समय न्यायाधिकरण में हैं।'

वे गंभीर थे। मैं मंगला को लेकर एक ओर बिछी चौकी पर बैठ गई। मंगला बैठी मेरे चरणों के पास। महाराज श्वेत उत्तरीय ओढ़े थे। शरीर पर रेशमी कंचुक था। मणिमालाएँ गले में झूल रही थीं। कानों के रत्नकुण्डलों पर प्रकाश चमकता था। और पिता का मुख अत्यंत सौम्य था। आँखें ऐसी गहरी थीं जैसे आकाश। गोरे तो थे ही वे। मैं तो कहूँगी कि वे माँ की तुलना में कहीं अधिक सुंदर थे। माँ इतनी गोरी थीं, आँख-नाक की भी सुडौल थीं; पर मैंने जो छवि का गौरव और वैभव पिता में देखा, वह मुझे माँ में नहीं मिल सका। पिता में जैसे एक स्वावलंबी पूर्णता थी, जो माँ में नहीं थी। इसका यह मतलब नहीं कि माँ मुझे अच्छी नहीं लगतीं। लगती हैं, मैं उन्हें बहुत प्यार करती हूँ। पर पिता मुझे लोक में सबसे अच्छे लगते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनका मन बहुत सुंदर है।

उसी समय दण्डधर ने झुककर कहा : 'देव ! अपराधिनी प्रस्तुत है। और उसके विरुद्ध वाद लाने वाले भी आ गये हैं।'

'ले आओ।'

दण्डधर चला गया। कुछ ही देर में दो सेवक एक स्त्री को बाँध लाये और एक ओर खड़ा कर दिया। दूसरी ओर सात आदमी थे। उनके साथ अनेक स्त्री-पुरुष और आ गये। वे दोनों ओर के संबंधी थे। कुछ कोलाहल हुआ तो दण्डधर ने दण्ड फ़र्श पर पटककर कहा : 'शांत! शांत!'

सन्नाटा छा गया।

कार्यस्थ ने कहा : 'देव! यही है वह अपराधिनी!'

महाराज को जैसे स्मरण नहीं आया। पूछा : 'कौन? क्या किया है इसने?'

कार्यस्थ ने कहा : 'देव! यह सात नागरिक हैं। सातों ने वाद प्रस्तुत किया है। साधारण न्यायाधिकरण में जाने पर न्यायाध्यक्ष ने इस वाद को महाराज के पास भेज दिया है।'

'तब इसमें कोई विशेषता है?'

'नहीं देव! दोनों ओर से न्यायाध्यक्ष को घूस देने का प्रयत्न किया जाने लगा। न्यायाध्यक्ष ने लिया कुछ नहीं। तब दोनों पक्षों ने यह प्रचार किया कि अवश्य ही दूसरे से घूस ले ली गई होगी।'

'वाद क्या है?'

'देव! वाद यह है। प्रस्तुत स्त्री, नाम शेफालिका, क्षत्रिय वसिष्ठ गोत्रीय मकरंद की पत्नी है, दूसरी। पहली पत्नी के मर जाने पर आर्य मकरंद ने विवाह किया। आर्य मकरंद!'

'प्रस्तुत हूँ।' एक व्यक्ति ने कहा।

'आर्य मकरंद,' कार्यस्थ ने कहा : 'के पास संपत्ति है। उत्तराधिकारी नहीं है। उन्होंने शेफालिका—बंदिनी—को स्पष्ट समझाया कि यदि उनके पुत्र नहीं होगा तो वे फिर विवाह कर लेंगे। इसलिये शेफालिका ने जो किया, उसीसे प्रस्तुत सात नागरिक, आर्य जानुक, सागर, उपक, मरीचि, उपगुप्त, विरुद्धक और प्रबुद्धार्थ, वादी बने हैं।'

महाराज ने कहा : 'वादियों में से हर एक को कहना है, या एक ही कह सकता है?'

'महाराज की जय!' उपगुप्त ने कहा : 'हमारा एक ही आवेदन है। हम

नगर की वैश्य वीथि में रहते हैं। वहाँ हमारे गोपालन के लिये बने कच्चे घर हैं और उनपर फूँस के छप्पर हैं। व्यापार के समान रहते हैं जो घरों के पिछवाड़े प्रकोष्ठों में, आलिंदों में भी भरे जाते हैं। श्रेष्ठि जानुक कलाबत्तू, सागर रेशमी कपड़ों, उपक काठ के सामानों, मरीचि गंधद्रव्य, विरुद्धक लिखने के रेशम और भूर्जपत्र, प्रबुद्धार्थ तैयार माल को इकट्ठा करते हैं; उन्हींका व्यापार करते हैं। मैं, उपगुप्त, सूती और ऊनी कपड़े रखता हूँ। सात शनिवार बीते हैं और हम सातों के घर में एक-एक करके आग लगी है और हम कंगाल हो गये हैं।'

'आग एक-एक शनिवार को लगी?' महाराज ने कहा : 'क्यों? क्या तुम्हारा कोई शत्रु था?'

'नहीं देव!'

'तो? कैसे हुआ यह?'

'देव! अब यह तो यह स्त्री ही जाने।'

महाराज ने स्त्री की ओर देखा।

'यह लड़की!' फिर कहा : 'क्या नाम है तुम्हारा?'

'देव! शेफालिका।' उपगुप्त ने कहा, क्योंकि स्त्री ने उत्तर न देकर सिर झुका लिया। फिर उपगुप्त ने उसके पति इत्यादि का परिचय देकर कहा : 'यह स्त्री मेरे यहाँ आग लगने पर भागती पकड़ी गई। मेरा यह दास—यहाँ प्रस्तुत है—वह खड़ा; देव! गोपाल इसका नाम है, इसने इसे आग लगाते देखा। जब तक वह रोकता, हवा तेज होने के कारण आग फैल चली। तब उसने इसे पकड़ लिया। इससे पूर्व छः शनिवारों को जो आग लगी थी, वह भी इसीने लगाई होगी।'

'इसका कारण!' महाराज ने स्त्री से पूछा : 'अकारण ही नागरिकों की संपत्ति विनाश करके नगर की शांति तुमने किसलिये नष्ट की? प्रतिवाद करो। यदि यह भी मान लिया जाये कि तुमने छओं के घरों में आग नहीं लगाई, तो सातवें के घर में तो लगाई ही। आग लगाना एक भयानक काम है। घर में पशु, बच्चे, बूढ़े, स्त्रियाँ सब होते हैं। एक व्यक्ति अत्यंत परिश्रम से कमाता है और उस सबके अकारण और आकस्मिक विनाश से वह कहीं का नहीं रहता। अतः आग लगाने में तुम्हें कोई कारण अवश्य होगा। बोलो!'

स्त्री ने फटी-फटी आँखों से देखा, पर बोली नहीं।

महाराज ने कहा : 'अपराधिनी का संरक्षक कौन है ?'

'मैं हूँ देव ! क्षत्रिय मकरंद।' मकरंद ने हाथ जोड़कर कहा।

'तुम बता सकते हो ?'

'देव ! मैं नहीं जानता। इतना जानता हूँ कि कुछ दिन पूर्व जब मैं पण्य में था, किसीने मुझे सूचना दी कि मेरे घर में आग लग गई है। धुँआ निकल रहा है और मेरी स्त्री, यही शेफालिका, घर में नहीं है। मैं भागा-भागा घर पहुँचा। सचमुच शेफालिका नहीं थी। आग नहीं लगी थी। अवश्य ही वह प्रकोष्ठ में सुलगाई गई थी। नीम के पत्ते पड़े थे पास में अधजले। एकाध धतूरा भी था। एक प्याली में आक का दूध-सा था, क्योंकि पास में कुछ आक के पत्ते भी पड़े थे। और महाराज ! इसी शेफालिका की कोख से जन्मी मेरी दुधमुँही, एक महीने की बच्ची शय्या पर मरी पड़ी थी। मेरे शोर-गुल से पड़ोसी आये। तब तक यह भी आ गई। मैंने पूछा तो इसने कहा कि एक औषधि बनाने को इसने धुँआ किया था, वह पत्ते लाई थी; उठकर ज़रा शौचार्थ बाहर गई थी। देव! उस समय हमारा शौचगृह बरसात से गिर गया था, सो हम लोग पिछवाड़े के घने उपवन में जाने को विवश थे। सबने शोक प्रगट किया और चले गये। मैं समझा कि यह बहुत रोयेगी, परंतु ऐसा नहीं हुआ। इसने केवल यही कहा : कन्या के लिये क्या रोऊँ ? यह तो बड़ी होकर दुःख ही पाती ! —बस देव ! और कोई बात मैं नहीं जानता।'

महाराज ने कहा : 'यह घटना किस वार को हुई ?'

'देव ! वार तो शायद शनिवार ही था।'

'इसके कितने बाद पहली आग लगी ?'

'देव सातवें दिन।'

'और शेष ?'

'हर सातवें दिन !'

'वादियों में से केवल उपगुप्त के घर अपराधिनी पकड़ी गई ?'

'हाँ देव !'

'तब छओं के घर में आग इसीने लगाई, यह केवल अनुमान है। अनुमान के

क्षेत्र में अपराधी को सन्देह का लाभ देना ही परंपरा है। अतः अब केवल उपगुप्त बोले।'

विरुद्धक ने टोका : 'देव ! हम तो बरबाद हो गये।'

उपक ने कहा : 'महाराज ! हम तो भिखारी हो गये।'

'दैव का कोई प्रतिकार नहीं,' महाराज ने कहा : 'उसका उपाय यही है कि तुम राजा से संरक्षण माँगो। आकस्मिक दुर्घटना होने पर राज्य ऋण भी दे सकता है, और दान भी। वाद का काम आगे चले।'

छओं वादी यह सुनकर पुकार उठे : 'महाराज की जय ! महाराज का न्याय अजेय है !'

दण्डधर ने दण्ड पटककर पुकारा : 'शांत ! शांत !'

निस्तब्धता छा गई।

महाराज ने शेफालिका से कहा : 'अपराधिनी तुम हो। आग तुमने लगाई। आग तुमने क्यों लगाई ?'

मकरंद ने कहा : 'देव ! यही क्या निश्चय है कि आग इसीने लगाई। हो सकता है यह देखने निकली हो। उपगुप्त मेरे पड़ोसी हैं। संभवतः यह आग देखकर निकली हो ! और उपगुप्त के दास ने भूल की हो।'

सभा में सन्नाटा खिंच गया। महाराज ने उपगुप्त की ओर देखा। तब एक अजीब बात हुई। शेफालिका विचित्र ढंग से हँसी। उसकी आँखें चमकने लगीं। उसने कहा : 'नहीं। आग मैंने लगाई है। मैंने ही सातों शनिवारों को आग लगाई है। मैंने ही अपनी बच्ची को आक का दूध पिलाकर प्रकोष्ठ में धुँआ घोंटकर उसकी हत्या की है।'

और वह फिर दाँत भींचकर चुप हो गई।

सभा में आतंक फैल गया। मकरंद ने अवाक् होकर देखा और उसके बाद फुसफुसाते स्वर सुनाई दिये—राक्षसी ! राक्षसी !

उन शब्दों को सुनकर शेफालिका जैसे संतुष्ट हुई। वह अपने बिखरे बालों को हाथों से फहराती चिल्लाई : 'हाँ मैं राक्षसी हूँ ! मैं हूँ राक्षसी ! मैंने निरपराधों के घर जलाये हैं ! मैंने उन्हें भिखारी बना दिया है ! मैंने उनके पशुओं को जलाया

है ! मैंने उनकी स्त्रियों और बच्चों को बिलबिलाते देखा है ! मैंने ही अपनी अबोध दुधमुँही, प्यारी बच्ची की हत्या की है ! मुझसे घृणा करो ! यह राजा मेरा न्याय नहीं कर सकता ! यह मुझे छोड़ देगा ! यह मुझे संदेह का लाभ देना चाहता है। अपराध मैंने किया है और दण्ड यह भरना चाहता है ? नहीं ! पाप का फल मुझे दो ! मैं ही राक्षसी हूँ ! अन्धी ! पाप में डूबी हुई ! स्वार्थ के विष ने ही मेरी धमनियों में यह भीषणता व्याप्त की है। मैं जिंदी जला देने योग्य हूँ। जला दो मुझे ! जला दो !'

वह भागने को हुई तो सेवकों ने उसे पकड़ लिया। सब विस्मित-से खड़े रहे। महाराज के माथे पर पसीना-सा चू आया। मंगला भयभीत-सी मेरे पाँवों से सट गई। मकरंद को चक्कर-सा आ गया। उसने आँखें फैलाकर कहा : 'तूने ! तूने मेरी बच्ची को मार डाला ! तूने उसे विष दिया ! वह जो अबोध-सी मुँह खोलती थी तेरे वक्ष पर कि तू उसे दूध पिलाये और लोरी गा-गाकर थपकियाँ दे। मेरी वह चन्द्रमा से भी उज्ज्वल बच्ची ! वह जिसे देखकर मैंने इतनी कल्पनाएँ की थीं !'

'हाँ !' शेफालिका ने कठोर स्वर से कहा : 'मैं पापिनी हूँ, तो तुम भी पापी हो !'

वह घबरा उठा : 'दुहाई है महाराज की ! यह मुझे पापी कहती है।'

सभा में कोलाहल हो उठा।

'हाँ देव !' स्त्री चिल्लाई।

कोलाहल में वे स्पष्ट नहीं सुन सके। दण्डधर चिल्लाया : 'शांत ! शांत !'

निस्तब्धता छाने पर स्त्री ने कहा : 'मैं माँ थी ! मैंने उस बच्ची को मार डाला। महाराज ! पहले मेरे हाथों को जलवा दें। फिर मेरी आँखें निकलवाकर इनमें लाल मिर्च भरवाकर इन्हें छुरों से गुदवायें। फिर जब मैं दर्द से हाहाकार करूँ तब सबसे कहें कि वे मुझपर निर्दयता से हँसें। मैंने जिसे कोख में रखा, जिस बालिका को ब्रह्मा ने मुझे दिया, और जिसकी उसने मुझे माँ बनाया, मैंने उसे आक का दूध पिलाकर, उसका गला घोंट दिया। वह बिचारी तो यह भी न जान सकी कि उसके साथ किसने क्या किया ? क्यों किया ? आखिर उसका दोष क्या था ?'

उसने हाथों की मुट्ठियाँ खोलकर दिखाकर कहा : 'यह है हत्यारी की उँग-

लियाँ ! इन्हें देखिये महाराज ! इन्हें देखिये !'

महाराज ने धीरे से कहा : 'तो शेफालिका ! तूने ऐसा क्यों किया ? क्या उस समय तुझमें मातृत्व शेष नहीं था !'

'मातृत्व !' स्त्री ने स्वर पीछे खींचकर कहा : 'मातृत्व स्त्री के जीवन का सबसे बड़ा छल है, पाप है। क्या है स्त्री का गर्भ ! प्राणी की यातना का कारागृह। इसीलिये तो स्त्री घृणित है। इसी हत्या के अभिशाप के फलस्वरूप पहले रक्त बहता है और तब होता है पाप !' वह निष्ठुरता से हँसी और मकरंद की ओर हाथ उठाकर बोली : 'बोल ! चाहिये तुझे पुत्र ! महाराज ! इसको पुत्र देने के लिये मैंने इतनी आग लगाई, इतना विध्वंस किया। मणिभद्र यक्ष के मेले में मुझे एक किरात स्त्री ने यह तरीका बताया था कि बेटी को मारकर कह कि जा ! अब अपने भइया को भेज दे, और तब सात शनिवार आग लगा।'

'अनार्य !' किसीने फुसफुसाया।

'और यह आर्य मार्ग है ?' स्त्री ने फूत्कार किया : 'कि यह मेरे जीवित रहते दूसरी स्त्री को लाना चाहता था। मैंने देखा मेरे सामने सौत खड़ी थी। सौत !! वह मुझे मार डालती। वह मेरी शय्या पर सोती ! और मैं उसके पाँव दबाती ! जैसे मेरी माँ की छाती पर आकर सौत ने मूँग दली थी। मेरी पवित्र माता। पति को देवता समझती थी ! किंतु सौत, हाँ मेरी सौतेली माँ ने उसे विष दे दिया ! वह तड़प-तड़पकर पानी···पानी···कहती हुई चिल्ला-चिल्लाकर प्यासी मर गई··· मैं सौत देखती ? वह इसके अंक में सोती और मैं ?'

ईर्ष्या से उसके नेत्र जल उठे।

सभा निस्तब्ध थी।

महाराज ने कहा : 'प्रतिवादी ने पाप स्वीकार कर लिया। वादीगण सुनें। उसने अपराध स्वीकार किया है।'

'हत्यारी !' वे फुंकार उठे। स्त्री अब चुप खड़ी थी।

महाराज ने कहा : 'शेफालिका ने घोर पाप किया, किंतु उसके पाप का कारण था—नारी-सुलभ ईर्ष्या, नारी का नारी पर अत्याचार, नारी के नारी पर अधिकार की आशंका। और उसके मूल में थी यह भावना कि यह पुत्रवती नहीं हो सकी।

स्त्री पुत्र को जन्म न दे पाने पर अपने को लोक में बाँझ समझती है, और स्त्री इस शब्द को अपने लिये नहीं सुनना चाहती। माता की मृत्यु ने इसे डराया था, इसलिये उसने आत्मरक्षा के लिये इतना पाप किया। उस पाप की ओर उसे किसने प्रेरित किया? एक अनार्य स्त्री ने। इस स्त्री ने उसे क्यों स्वीकार किया? अपने गर्भ से जन्मी पुत्री को मारने योग्य दुस्साहस इसमें कहाँ से आया? पुत्रवती होने की कामना से। यह निर्बलता स्त्री में इतनी सशक्त क्यों हुई? क्योंकि लोक में पुत्र ही जीवन का आधार है। और उसे भय दिलाया किसने? मकरंद ने। हम निर्णय देते हैं कि सातों वादी हमसे अपनी हानि पूरा करें। यह शेफालिका, जिसने आत्मरक्षा के लिये सब कुछ किया, छोड़ दी जाये।'

सभा में जैसे वज्र गिरा। शेफालिका जैसे पत्थर हो गई थी।

'महाराज!' कार्यस्थ काँपते स्वर में बोला: 'यह धर्मशास्त्र के विरुद्ध है!'

मैं न जाने क्यों इस निर्णय से विक्षुब्ध हो गई। मैंने खड़े होकर कहा: 'महाराज! यह निर्णय पापपूर्ण है।'

'पुत्री!' महाराज ने मेरी ओर आश्चर्य से देखकर कहा। फिर वे मुस्करा दिये और कहा: 'दुहिते! अभी तुम नहीं समझ सकतीं। और भी व्यापक होकर सोचना होगा। पाप की जड़ कहाँ है?'

मैंने कहा: 'आर्य! मैं अनभिज्ञ हूँ, परंतु एक बात पूछूँ?'

'पूछो वत्से!'

'आत्मरक्षा के लिये आक्रमणकारी पर हमला करके उसे मारना उचित है या निरपराधों को मारकर अपने ऊपर आक्रमण करने वाले को संतुष्ट करके अपने प्राण बचाना!'

महाराज सोचने लगे।

मैंने फिर कहा: 'यदि शेफालिका को भय था तो वह अपने पति की हत्या करती। उसने अपने क्रूर पति को तो छोड़ दिया। उसे संतुष्ट करने को एक अबोध बालिका की हत्या की क्योंकि उस बालिका से इसे सम्मान नहीं मिल सकता था। और इसने दूसरों के घर उजाड़ दिये, कि इसको पुत्र मिले! यदि इसको उपगुप्त के यहाँ पकड़ा न जाता, तो क्यों यह प्रगट होती, इसके राक्षसत्व का इसे दण्ड ही क्यों

मिलता ? पुत्र होना भाग्य की बात है। मेरे भी तो भाई नहीं है। महारानी भी स्त्री ह। उन्होंने तो इस तृप्ति के लिये ऐसे कोई जघन्य कार्य नहीं किये ? क्या उनको राज्य का उत्तराधिकारी नहीं चाहिये ? न्याय में क्या स्त्री, क्या पुरुष ! मकरंद ने पुर्नविवाह की धमकी दी; यह उसे मारती। लोक में बहुविवाह प्रथा है तो यह विवाह ही न करती। इसने जो कुछ किया, लोक के लिये नहीं, अपने लिये किया ! यह दण्डनीय है।'

मुझे क्या पता था कि मेरी बात का क्या नतीजा निकलेगा। सब चौंक उठे। महाराज भी।

पर शेफालिका चिल्ला उठी : 'देवी ! चूलकोका पक्षी ! तूने न्याय किया है। मैं तो घबरा गई थी कि यह पुरुष सब मूर्ख होते हैं, मैं क्या करूँ ! मैं अब जीवित रहूँगी ! लोक मुझपर घृणा से थूकेगा और मैं जिऊँगी ? इस पशु के साथ ! मैं अनंत नरकों में पति से विद्रोह करने के पाप में रह सकती हूँ किंतु मुझे वह स्वर्ग नहीं चाहिये जिसमें इसके साथ रहना पड़े। मैं अधम ! अधमों में अधम ! जिन हाथों से मैंने अपने सुख के लिये अपनी बच्ची का गला घोंटा है, हाथ अनंत काल तक नगर-द्वार पर काटकर लटकवा दो ताकि प्रलय तक लोक इन्हें घृणा करते रहें ! मैं पुत्र के लिये ऐसी पापिन हो गई ! मुझे जीवित टुकड़े-टुकड़ेकर चील-कौवों को खिला दो !'

वह धरती पर सिर पटकने लगी।

महाराज ने कहा : 'पुत्री ठीक कहती है। इस स्त्री को प्राणदण्ड दो।'

शेफालिका चिल्लाई : 'महाराज की जय ! कुमारी लोक में स्त्री को जगाये ! सती तेरा अखण्ड गौरव हो !'

'और', मैंने कहा : 'महाराज ! इस मकरंद को भी दण्ड मिले।'

मकरंद ने काँपते स्वर से कहा : 'अन्याय ! घोर अन्याय ! किस स्मृति में लिखा है कि पुरुष स्त्री के बाँझ होने पर दूसरी स्त्री से विवाह न करे ? मैंने क्या अधर्म किया है ? यदि पुरुष के नपुंसकत्व पर स्त्री को अधिकार है कि वह पति का त्याग कर दे; पुरुष को भी स्त्री के बाँझ होने पर दूसरा विवाह करने का अधिकार है। यदि मुझे दण्ड मिलेगा तो मैं मृत्यु का वरण करूँगा, परंतु पहले मुझे पाप समझाया

जाये। मैंने क्या बुरा किया, केवल यही जानना चाहता हूँ। बाँझ स्त्री क्या नपुंसक नहीं होती ?'

'नहीं', मैंने कहा : 'उसने पुत्री को जन्म देकर मातृत्व प्रमाणित किया। वह बाँझ कहाँ थी। तूने उससे पुत्र माँगा। कौन जानता है पुत्र तेरे ही भाग्य में नहीं था तूने दैव को बदलना चाहा।'

वृद्ध ब्राह्मण कञ्चुक ने बढ़कर कहा : 'नहीं कुमारी! यह तो अनुचित है। पुत्र के लिये लोक है। इसने किसी अनुचित तरीके से पुत्र की कामना नहीं की। यह धर्मसम्मत है।'

महाराज ने कहा : 'हाँ आर्य कञ्चुक! यह पुरुष का स्वार्थी धर्म है। जब स्त्री का एक विवाह होता है, तब पुरुष के अनेक क्यों हों? स्त्री के पुत्र नहीं होता, तो क्या पति के रहते उसे भी पुत्रोत्पन्न करने के लिये अन्य पुरुषों से संबंध करने की आज्ञा है ?'[१]

म इस बात को अच्छी तरह समझ नहीं पाई।

वृद्ध कञ्चुक ने कहा : 'आर्य! धर्म की मर्यादा तो सदैव बदलती रहती है। अब से यह मर्यादा स्थापित की जा सकती है; परंतु अभी तक तो ऐसा नहीं है, क्योंकि अभी तक पुरुष को ही स्त्री का प्रत्येक अवस्था में स्वामी स्वीकार किया गया है

---

१. बुद्ध के बाद लगभग ३०० वर्ष के उपरांत जब प्राचीन रामकथा शुंग काल में संपादित की गई, तब इसी विचारधारा के अनुसार राम के रूप में आदर्श पुरुष को चित्रण किया गया, जिसमें हर हालत में राम ने एकपत्नीव्रत ही निबाहा—ऐसा दिखाया गया। जैनस्रोतों में जो रामकथा है, उसमें राम के कई स्त्रियाँ हैं। केवल ब्राह्मण चिंतन ने यह आदर्श लोक के सामने रखा, यद्यपि यह कार्यव्यवहार में प्रचलित नहीं हो सकता। रही जैन विचारकों की बात। उन्होंने एकपत्नी व्रत को विशेषता नहीं दी, क्योंकि बाद में जैनों ने स्त्री को विलास की वस्तु समझा क्योंकि जैनदर्शन में स्त्री को महत्व नहीं मिला। यह एक आश्चर्य की बात है क्योंकि स्वयं तीर्थंकर महावीर स्वामी स्त्रियों के प्रति बहुत उदार थे। उन्होंने स्त्री को भी तप करने का अधिकार दिया था।

और लोक में यही प्रचलित है। यदि ऐसा विधान चालू किया जायेगा, लोक इसके विरुद्ध विद्रोह करेगा।'

महाराज ने सिर हिलाकर कहा : 'आर्य कञ्चुक ! आप विद्वान हैं, वयोवृद्ध हैं। निस्संदेह यह विषय परिषद् के विचार करने योग्य है। धर्म की मर्यादा के भीतर रहने के कारण मकरंद दण्ड के लिये अस्पृष्ट है। परंतु मनुष्य धर्म से भी ऊपर है। आज नहीं तो कल इसे कोई अवश्य कहेगा। मकरंद ! तुम मुक्त हुए, क्योंकि इस समय लोक में एक अन्याय ही धर्म के नाम पर प्रचलित है।'

महाराज उठ गये। मैं उनके साथ चली। पीछे मंगला आ गई।

महाराज ने मेरी पीठ पर स्नेह से हाथ फिराया। मुझे उस समय यह नहीं मालूम था कि बात सब जगह फैलती जा रही है और यह फैलते-फैलते चंपा के बाहर अंगराज्य में फैल जायेगी। महाराज बड़े ही प्रसन्न थे और वे बोले : 'पुत्र ! मूर्ख पुत्र का मैं क्या करूँगा ! मेरी पुत्री इतनी बुद्धिमती है, इसे देख ! लोक देखे। धन्य पुत्री ! तू अपनी माता जैसी ही विदुषी है।'

मंगला ने धीरे से कहा : 'वह तो कहो।'

मैंने कवि वाली बात बताई।

सुनते रहे और बोले : 'पुत्री ! तू करुण हृदय है। अवश्य कवि को धन देना चाहिये। कवि साधारण मनुष्य नहीं होते। ये लोग श्लोक कैसे बना लेते हैं ?'

फिर हँसे और बोले : 'मैंने प्रयत्न किया, पर एक भी नहीं बना। वैसे पढ़ता हूँ तो लगता है, अरे यह तो बड़ा सरल है, फिर मैं क्यों नहीं बना पाता ? बिटिया ! तू बना लेती है ?'

मैंने कहा : 'नहीं पिता ! मैं क्या जानूँ ?'

फिर वे सोचते हुए बोले : 'और कवि का लोक में वैसे कोई मूल्य नहीं है। हमारा धर्म, हमारा सबकुछ काव्य में है। परंतु जो इतना बड़ा काम करता है, उसका कोई आधार नहीं है। पहले कवि वनवासी होते थे, अब वे नगर में रहते हैं।' फिर बदलकर कहा : 'अच्छा, चलो। पहले नाटक सुनें।'

मैंने उन्हें नाटक सुनाया तो बोले : 'यह तो बड़ा अच्छा कवि है। इसको अवश्य धन देना। दरिद्रता बहुत भयानक होती है। समझ में नहीं आता वह कौन-सा पुण्य

है जिसके फलस्वरूप मनुष्य कवि बनता है, परंतु वह पुण्य भी उसे दरिद्रता का ही दु:ख देता है।'

मैंने कहा : 'पिता ! वह बहुत दुखी है।'

'तुझे कैसे पता ?'

'आचार्य करवीर कहते थे।'

'उसे क्या दु:ख है !'

मैंने पत्नी वाली बात सुनाई। सुनकर कुछ उदास हो गये। फिर सोचते हुए बोले : 'पुत्री ! यह नहीं जान सका हूँ कि लोक में स्त्री का पाप अधिक है या पुरुष का। पर तू अभी बच्ची है। तू क्या समझेगी बिटिया !'

मैंने रूठकर कहा : 'अभी तो आप कहते थे कि मैं सब समझती हूँ।'

वे हँसे और मेरे सिर पर हाथ फेरकर बोले : 'अरे बिटिया ! मैं तो सच भूल ही गया था। पर तू अभी छोटी-सी ही तो है, मुझे तेरे खेल याद आते हैं !'

वे जैसे अतीत में खो गये।

मैं जाकर आचार्य से मिलना चाहती थी। सो लौट आई। आश्चर्य तो मुझे तब हुआ जब आचार्य नहीं आये।

दुपहर बीतने लगी।

मैंने कहा : 'मंगला ! आचार्य को आज क्या हुआ ?'

मंगला ने मेरी ओर देखा और उसकी आँखों में भी कौतूहल था।

'आज शायद अस्वस्थ हों।'

'तो चल कहीं घूम आयें।'

'जरिता मौसी को तो बुला लूँ।'

'ले आ। माँ से कह आना।'

मंगला चली गई।

हम जब चले तो मारुत ने कहा : 'राजकन्ये ! किधर चलूँ ?'

'मारुत !' मंगला ने कहा : 'राजकन्या चाहती हैं कि नगर में होकर चल !'

'नगर में ? क्यों ?'

'पूछ तू ही।'

मारुत की हिम्मत अधिक नहीं हुई। बोला : 'जरिता! सैनिक तो साथ ले ले।'

जरिता ने ताली बजाई। दण्डधर आ गया।

'जा सैनिक भेज दे।'

वह सिर झुकाकर गया और बीस सशस्त्र सैनिक रथ के पीछे घोड़ों पर चढ़े आ गये। मैंने कहा : 'अरे इतने क्या होंगे!'

'आगे देखो!' मंगला ने कहा।

लगभग बीस ही आगे थे रथ के।

अब राजकुमारी—यानी मेरी सवारी गौरव से चलने लगी, किंतु मुझे अपने एकांत में बाधा पड़ती लग रही थी। पहली बार मैं अकेली थी। परंतु माँ इस बात से नाराज़ हुई थीं कि मैं ऐसे चली गई थी। मारुत को बड़ी फटकार लगी थी। अंतःपुर के महाप्रतिहार ने कहा था : 'इस बार नौकरी से नहीं निकाला जाता, केवल इसलिये, समझ ले कि राजकन्या ने तुझे बचा दिया है। परंतु तू वृद्ध होकर कैसे अपनी जिम्मेदारी भूल गया!' इसलिये अब उसकी कैसे भी हिम्मत ही नहीं पड़ी थी। अश्वारोहियों को देखकर प्रजाजन सामने से हट जाते थे। सैनिकों के भालों पर ढलते सूर्य की किरणें चमक रही थीं।

हम वन की ओर निकल गये। वन की शोभा देखकर मेरा हृदय प्रसन्न हो उठा। सघन वृक्षों के नीचे से गाएँ लौटी थीं, जिनके खुरों से धूलि उठ गई थी। उस धूलि पर सूर्य की पीली किरणें पड़ने से ऐसा लगता था जैसे सोना ढेर-ढेर बिखर गया हो। मैं देखती रही। बोली नहीं। जब हम दूर निकल आये जरिता ने कहा : 'अरे बहुत दूर आ गये। लौटा ले भैया मारुत!'

मारुत ने हाँक दी। आगे वाले सैनिक मुड़ चले और हम जैसे गये थे वैसे ही लौट चले। मेरे रथ के दो घोड़ों और सैनिकों के चालीस घोड़ों के दौड़ने से वन-प्रांतर काँप उठा। उनकी गति से उनकी अयालें उड़ने लगीं। हवा मेरे शरीर में बड़ी सुखद-सी आ-आकर लगती थी। शीघ्र ही नगर-द्वार दीखने लगा।

जब हम राज पथ पर आ गये, सामने भीड़ दिखाई दी। सैनिकों में आगे वाले ने चिल्लाकर कहा : 'हट जाओ! पथ से हट जाओ! राजकुमारी आती हैं। भट्टारिका आती हैं।'

और उसके हाथ में कशा (कोड़ा) चमक उठी। भीड़ फट गई। रथ आगे बढ़ा।

किंतु मैं तो अवाक् रह गई। पथ के किनारे लुटे हुए-से खड़े थे आचार्य करवीर।

'रोक मारुत! रथ रोक!' मैं चिल्ला उठी।

मारुत ने रथ रोक दिया।

मैंने कहा: 'मंगला! देख तो आचार्य करवीर को क्या हुआ? फटे कपड़े! सिर पर धूल!'

मंगला उतर गई और खोये-से खड़े हुए आचार्य के पास चली गई। आचार्य ने सूनी आँखों से देखा।

'प्रणाम करती हूँ आचार्य!' मंगला ने कहा। भीड़ यह सुनकर हँसने लगी। आचार्य पागलों की तरह चिल्लाने लगे: 'हँसो! और हँसो! तुम मेरा घर जलते हुए देखकर हँसते हो! एक दिन आयेगा जब तुम सब रोओगे, छाती पीट-पीटकर रोओगे!'

उनकी उत्तेजना देखकर हम सब सहम गये। जरिता ने पुकारा: 'आर्य! आइये। राजकन्या प्रतीक्षा कर रही हैं।'

आचार्य ने सुना और रथ के पास आ गये। जाने क्यों मुझे देखकर वे फूट-फूटकर रोने लगे। मेरी भी आँखों में आँसू आ गये।

मैंने भर्राये स्वर से कहा: 'आचार्य! क्या हुआ?'

उन्होंने रोते हुए ही कहा: 'बिटिया!' फिर चौंककर कहा: 'भट्टारिके! सब लुट गया। सब चला गया।'

जरिता ने पूछा: 'क्या लुट गया आर्य!'

करवीर ने स्वर उठाकर कहा: 'अब मुझे कोई लज्जा नहीं जरिता! अब मुझे कोई लज्जा नहीं। मेरा बड़ा बेटा, तू तो जानती है, मर गया और विधवा छोड़ गया था। मेरे दूसरे बेटे की अनेक संतान देखकर, मैंने उसका दूसरा ब्याह कराया था। मेरी बेटी थी छोटी, उसका यहीं विवाह हो जाये, इसी आशा से मैं पाल रहा था। अब कुछ नहीं रहा। बड़ी पुत्रवधू अब किसी व्यभिचारी के द्वारा गर्भवती हो गई। उसने मेरा मुँह काला कर दिया और यह प्रगट भी हो गया। क्यों? क्योंकि दूसरे पुत्र की

दूसरी बहू अपने सौतेले बच्चों पर घोर अत्याचार करती थी, उसको मैं रोकता था, इसलिये उसने मुझे अपमानित करने को सब कुछ प्रगट कर दिया। और', करवीर हँसे : 'मेरी लाड़ली अबोध बच्ची को कुट्टिनी (कुटनी) अलम्बुषा फुसलाकर कहीं भगा ले गई और अब वह कहीं बेच दी जायेगी। हो गया ! सब खेल समाप्त हो गया। करवीर ! तूने बहुत चित्र बनाये और अब अंत में तू ही चित्र बन गया।'

आचार्य भाग चले।

मैं देखती रही। भीड़ हँसने लगी। तब जरिता ने कहा : 'रथ बढ़ाओ ····

रथ आगे बढ़ा। भीड़ छँट गई और हम आगे निकल आये। मुझे कुछ बुरा-बुरा-सा लग रहा था सब कुछ। प्रासाद में आकर मैं शय्या पर लेटकर रोने लगी। जरिता ने संवाद माँ को पहुँचाया।

'पुत्री !' माँ ने आकर मुझे हिलाया : 'क्यों रोती है तू बिटिया !'

'माँ !' मैंने कहा : 'यह संसार तो बहुत बुरा है।'

माँ के पहले ही द्वार से उत्तर सुनाई दिया : 'हाँ बेटी ! यह तभी तो मृत्युलोक कहलाता है।'

'स्वामी !' माँ ने कहा।

'हाँ देवी ! आज पुत्री संसार के दुःख से व्याकुल हो गई है न ? आचार्य करवीर की अवस्था देखकर। इस राज्य का अधिपति होने के नाते, सब जानकारी मुझे प्रायः पहले ही मिल जाती है। आचार्य करवीर राज्य के गौरव थे। आज वे पथों पर पागलों की तरह भाग रहे हैं।'

उनका स्वर बहुत सधा हुआ था।

माँ ने कहा : 'देव ! उन्हें क्या वेदना है ?'

'देवी ! बहुत बड़ी साधना यदि नष्ट हो जाये तो मनुष्य का क्या होता है ? वह अपने को सँभाल नहीं पाता। लोक की कुटिलता ने सीधे-सादे आचार्य को मिटा दिया। महानता जिस क्षुद्रता में पलती है, वह क्षुद्रता कभी महानता को समझती नहीं। तुम क्या समझती हो कि बार-बार जिसपर झुक-झुककर कमल अपना पराग बरसाता है, उस कमल को वह नीचे की कीचड़ कुछ समझती है ? कुछ नहीं। देवी ! यह लोक ऐसी ही घृणा और अविश्वास के थपेड़ों में डगमगा रहा है। स्त्री और पुरुष परस्पर एक दूसरे

से जूझ रहे हैं। उनको अहंकार और संदेह खाये जा रहा है। वे स्नेह ढूँढ़ते हैं अपनी वासनाओं से विवश होकर, किंतु उन्हें मिलती क्या है? घृणा। घृणा ही तो लोकाचार का रूप बन गई है। मनुष्य सहज नहीं रहा है। धन! धन की विषमता एक ऐसा जाल है, जिसमें दैव मनुष्यों को पहले फाँस देता है! यह धन क्या है? इसका ऐसा रूप क्यों है? क्यों इससे मनुष्य को इतना मद आता है? क्या इसके पीछे मनुष्य इतना कमीना हो जाता है? इसमें ऐसी क्या शक्ति है कि जिसके पास यह है, वह इसे और इकट्ठा करना चाहता है? क्या है इसमें कि मनुष्य अपने मनुष्यत्व को इसके पीछे भूल जाता है? यह आज तक कोई नहीं बता सकेगा! कौन जानता है मनुष्य कभी इसकी समस्या को सुलझा भी पायेगा या नहीं? देवी! इसीके कारण हमारे परिवार में स्त्री और पुरुषों के संबंध भी विचित्रता से उलझ गये हैं।'

महाराज कहते रहे। मैं सुनती रही। महाराज ने फिर कहा: 'धन के संबंध मैंने ऐसे-ऐसे देखे हैं देवी! कि तुम सुनोगी तो विस्मय करोगी, परंतु लोक में वह ऐसे सहज सत्य हो गये हैं कि उनपर कोई अब विस्मय नहीं करता।'

मैं उठी। कहा: 'पिता! यह संसार क्या केवल पाप है! माँ तो संसार में बहुत अच्छी होती है, फिर लोग ऐसे क्यों होते हैं?'

'माँ!' पिता ने कहा: 'बिटिया! तूने देखा नहीं है अभी! एक कोख से जन्मे भाई-बहन एक घर में रहते हैं; माँ बेटों को घी-दूध देती है, बेटियों को नहीं। कहती है: तुम्हें क्या है? तुम तो परायी धरोहर हो! मैं भी ऐसी ही पली थी। तब मैं भी बुरा मानती थी, पर जब तुम माँ बन जाओगी तब तुम भी यही करोगी जो मैं करती हूँ।—सचमुच! स्त्री की जाति सहज नहीं मरती। वह तो कुट-पिटकर भी खड़ी हो ही जाती है।'

पिता के शब्द सुनकर माँ ने कहा: 'देव! आज अधिक विचलित हैं आप!'

पिता ने ऐसे देखा जैसे बहुत दूर वे किसी पर्वत पर खड़े थे। और माँ धरती पर थीं। फिर कहा: 'मनुष्य का स्नेह वास्तव में लोक के आचार के अनुसार निर्धारित होता है। मनुष्य का स्नेह एक वासना की विवशता है, झूठा है।'

'स्वामी!' माँ ने कुछ स्वर उठाकर कहा: 'बच्ची है यह! अभी कैसे समझ सकेगी?'

वे कुछ असंतुष्ट-सी थीं ।

पिता ने कहा : 'तुम ठीक कहती हो देवी ! समय आने पर ही सब कुछ हो सकेगा । लेकिन मैं देख रहा हूँ कि हमारी वसुमती असाधारण बनेगी !'

'तुम्हारी ही तो पुत्री है !' माँ ने कहा ।

'हाँ, तुम्हारी है ।' पिता ने उत्तर दिया ।

वे दोनों स्नेह से मुस्करा दिये । और मैंने देखा वह क्षण बहुत शांत एवं सुखद था । भूल गई मैं उस समय सब कुछ । पिता ने मुझे स्नेह से पास बिठा लिया और बैठ गई माँ सामने और कहा : 'यह मेरी बेटी है कहाँ, यह तो बाप की बेटी है · · ·'

पिता हँस पड़े ।

२.

यह अंगदेश है और इसकी राजधानी है चम्पा। मैं इसमें दधिवाहन नामक पुरुष की पत्नी हूँ। दधिवाहन के कोई दूसरी स्त्री नहीं है। जहाँ तक मैं जानती हूँ, कह सकती हूँ कि किसी अन्य स्त्री ने मेरे पति को मुझसे बँटाया नहीं है। आज ही नहीं, शताब्दियों से, ऐसी भाग्यशालिनी स्त्रियाँ नहीं के बराबर हुई हैं; यह सब ही लोग कहते हैं। सौत की मुसीबत क्या होती है, यह मैंने देखा है, परंतु कभी उसका मैंने स्वयं अनुभव नहीं किया है, तभी सदैव सौतों से कहा करती हूँ : 'अब जो होना था, सो तो हो गया। उसे तो तुम बदल नहीं सकतीं। फिर आपस में झगड़ा करने से क्या लाभ ? पुरुष की प्रीत को तुम अस्थिर कहती हो, होगा शायद ऐसा। मैं तो यह बात नहीं जानती। परंतु लड़ने से तो तुम लोगों के प्रति तुम्हारे पति का जी और खट्टा ही होता होगा न ?'

सौतें कहतीं : 'नहीं महारानी ! अब आपको कैसे समझाया जाये ?'

यहाँ मैं बता दूँ कि मेरे पति दधिवाहन अंगदेश के राजा हैं, और क्योंकि पति के रोज़गार के हिसाब से ही संसार में पत्नी का दर्जा माना जाता है; मैं भी वही पद पा गई हूँ जो उनकी पत्नी होकर मुझे मिल जाना अनिवार्य था।

मैं समझाती : 'नहीं यह बात नहीं है कि मैं इस दुःख को समझ न पाती होऊँ।'

'आप भाग्यशालिनी ह महारानी ! ' वे कहतीं : 'क्या यह स्त्री के लिये अन्याय का सहन नहीं है ?'

'अन्याय ?' मैं पूछती।

'महारानी ! एक बात बतायें। क्या स्त्री के एक से अधिक पति हों, तो पुरुष जाति सह सकती है ?'

'नहीं।' मैं कहती।

पास बैठी मेरी पुत्री वसुमति कहती : 'अम्ब ! ऐसा क्यों होता है ?'

यह है वसुमति अब तेरह के अंत में, चौदहवें में लगने लगी है।

सौतें कहतीं : 'बिटिया राजकुमारी ! आप अभी नहीं समझेंगी। आप छोटी हैं। इस संसार में विधाता ने पुरुष को ही सारी शक्ति दे दी है। वह चाहे जो कुछ कर सकता है। स्त्री तो एक खेत है। उसे तो केवल अन्न उगाना है, इसके अतिरिक्त और उसकी कोई सार्थकता ही नहीं।'

वसुमति इस बात को नहीं समझ पाती और मुझसे कहती : 'अम्ब ! पिता तो इतना प्यार करते हैं मुझे, क्या मेरे····

और कहते-कहते रुक जाती। सहसा ही लज्जा से उसका मुख आरक्त हो जाता और तब उसे ध्यान आता कि वह क्या कहने जा रही थी।

मुझे यह देख अपनी वय:संधि की याद आती और ऊपर से अपना बड़प्पन दिखाती हुई कहती : 'दुत् पगली ! कहीं ऐसे कहते हैं !'

पर मैं जानती हूँ कि दासी श्याभेलिका, जिसे सब छोटा करके श्याभला कहते हैं, उससे विवाह संबंधी बहुत बातें किया करती है। कन्या सयानी होने लगे तो उसे काम संबंधी ज्ञान देने का काम बढ़ जाता है। या तो किसी सच्चरित्र श्रमणी को यह काम दिया जाता है, या फिर कोई अच्छे कुल की विवाहित स्त्री इस काम को करती है। श्याभला वैसे अच्छे चरित्र की है, इसे मैं जानती हूँ। मैं भी इसमें बुरा नहीं समझती, और वह बिटिया को इस संबंध में शिक्षा दिया करती है। उसकी लड़की मेरी पुत्री से बड़ी है। श्याभला धात्रेयिका ने तो बिटिया को बचपन से ही दूध पिलाकर पाला है। मैं जब सत्रह की थी, तब यह जन्मी थी। तब इसके पिता बाईस बरस के थे, राजकुमार ही थे। अब इस बात को तेरह बरस बीत गये। मैं तीस की हो गई। यह तो मैं नहीं कहूँगी कि मेरा यौवन चला गया। सचमुच यदि वसुमति मेरे सामने न हो तो न कोई दूसरा ही कह सकता है कि मैं पूर्ण युवती नहीं हूँ, न मैं ही। उसको देखकर ही मुझे स्मरण होता है कि मैं पहली पीढ़ी की हूँ। मेरे पति अब लगभग पैंतीस वर्ष के हैं। उनको देखती हूँ तो आँखें भर जाती हैं। लंबे-चौड़े कंधे, लंबी आँखें, नुकीली नाक और पतले-पतले होंठ। एक-एक पेशी शरीर की सुघरता का परिचय देती है। कंधों पर काले मुलायम केश फैले रहते हैं। ऐसा यौवन देखकर चम्पा की कुलीन युवतियाँ आहें भरती हैं। जानती हूँ मैं ! मेरी सौत बनने को कितनी न रातें करवटें बदलती ही बिताती हैं, यह भी

मुझसे छिपा नहीं है ! मैं अकेली हूँ, पति की प्रिया ! स्त्रियों को मुझसे कितनी ईर्ष्या है ! सुनने में आया कि राज्य के कुछ अधिकारी मन ही मन महाराज से असंतुष्ट भी हैं, क्योंकि वे इसे उचित नहीं मानते। इसके वे कई कारण देते हैं। एक तो यह कि राजा व्यक्ति नहीं होता, प्रजा के लिये एक समष्टि का व्यष्टिरूप होता है। उसे एक स्त्री से इतना लगाव रखना ठीक नहीं। क्या जाने स्त्री कैसी निकले! स्त्री की बुद्धि का क्या ठिकाना ? ऐसा पुरुष जो इस पद पर रहकर एक स्त्री के बस में रहता है, वस्तुतः वह राज्य को अर्थात् समस्त प्रजा को एक स्त्री की स्वेच्छा के चरणों में छोड़ देता है। यह ठीक नहीं है, क्योंकि स्त्री को पति के द्वारा मिला हुआ अधिकार ऐसा नहीं होना चाहिये, जो पति के ही अधिकारों का अतिक्रमण कर दे। दूसरा कारण शायद यही हो, और कौन जाने, महाराज में इतनी शक्ति ही न हो, अन्यथा कौन पुरुष है जो अनेक सुंदरियों का उपभोग करना न चाहता हो ! इस बारे में तो अन्तःपुर के कञ्चुक से राजवैद्य ने एक बार एकांत में कहा भी था कि यदि महाराज चाहें तो मैं औषधि दे सकता हूँ। सच कहती हूँ, पुरुष में इस लांछन को झेलने के लिये कितना बड़ा धैर्य चाहिये, यह मैं जानती हूँ; क्योंकि जब दूसरी स्त्रियाँ मेरे पति को निर्बल जानकर मुस्कराती हैं, तब न केवल वह उनका अपमान होता है, वरन् मेरा भी; क्योंकि वे फिर वसुमति की ओर संदेह से देखती हैं, जैसे यह संतान भी मेरे पति की नहीं। कितनी घृणित है यह लोक की व्यवस्था। अपने अनुभव से यही कह सकती हूँ कि स्त्री बहुत मलिन होती है और वह छोटी बातें सोचती है। अच्छा होता यदि इस अपनी एक पुत्री के अतिरिक्त भी दो-एक संतान होतीं ! वसुमति का छोटा भाई कितना सुंदर होता। फिर भी मेरे पति को यह सब चिन्ताएँ नहीं सतातीं। मैं स्वयं उनसे कुछ नहीं कह सकती। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि राजा को चार विवाह तो जायज हैं, फिर भी एक विवाह करना, अमात्यों को बिल्कुल नापसंद है। वे कहते हैं कि राजाओं के विवाहों से राजनीतिक संबंध बनते हैं। यह मैं नहीं मानती। यह ठीक है कि लोक में यह चर्चा की बात है कि एक स्त्री का पति पर पूर्ण अधिकार हो, वह स्त्री सबकी आँखों में खटकती है। लोग समझते हैं कि ऐसी स्त्री जादूगरनी है, परंतु राजनीतिक विवाह जय-पराजय की अभिव्यक्तिमात्र होते हैं। स्त्री देना, एक पराजय की स्वीकृति है,

जैसे अपना खेत, दूसरे को हल चलाने के लिये दे देना। अपनी आँखों से ही जो देखती हूँ, दूर क्यों जाऊँ? वत्सराज की राजधानी कोसांबी इस दृष्टि से अपने अंग देश की राजधानी चंपा से रक्त से जुड़ी हुई है। मैं धारिणी, अंग की रानी; मेरी बहन मृगावती, महाराज शतानीक की पत्नी, वत्स देश की रानी। फिर भी क्या वत्स और अंग देश एक हैं? जैसे साधारण घरों में एक घर की दो लड़कियाँ अलग-अलग घरों में जाकर अपने-अपने पति के स्वार्थ देखती हैं, वही राजकुमारियों का भी होता है। भेद इतना है कि यह घर बड़े होते हैं और राज्य कहलाते हैं। और तब बहनें अपने स्वार्थ को पति के स्वार्थ से मिला हुआ पाती हैं और उनमें परस्पर स्नेह नहीं रह पाता। ऐसा क्यों होता है? क्या स्त्री का वास्तव में कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है? और सोचने पर पाती हूँ कि सचमुच अस्तित्व नहीं है।

श्याभला कहती है: 'मैं एक ऐसे परिवार में दासी थी जिसमें एक भाई था, एक बहन। दोनों में बड़ी प्रीति थी। बहन कलाबत्तू का काम जानती थी। कमा लेती थी अपने लायक। श्रेणी का एक ठेकेदार अड़ोस-पड़ोस में जाता था और स्त्रियों को काम दे आता था। ले जाते समय मूल्य चुका जाता था उनके श्रम का। भाई राजकर्मचारी था। भाई ने बहन से कई बार कहा: तुझे मेरे कमाते हुए, कमाने की जरूरत ही क्या है?

'बहन कहती: भैया! घर बैठे-बैठे करूँ भी क्या? दो कौड़ी हाथ रहें तो वक्त-बेवक्त काम तो भी आयेंगी।

'वह कहता: पर बहन! लोग समझते ह कि मैं अपनी बहन को खाना भी नहीं दे सकता। तेरे कमाने से मेरा अपमान होता है।

'बहन हँसकर कहती: भैया! मैं हूँ बिधवा। तेरे सहारे सम्मान का जीवन बिता रही हूँ। अन्यथा क्या लोक में कम खतरे हैं युवती के लिये! वे लोग घर में ज्यादा आमदनी देखते हैं तो जलते हैं। उनकी कोशिश है कि किसी तरह तुझपर ही सारा बोझ डाल दिया जाये। भला मैं कमाऊँ तो इसमें किसीका क्या अपमान है?

'भाई फिर भी हठ करता रहता। कुछ दिन में ही भाई का ब्याह होने वाला था। बहन ने कहा: पर मैं खाली बैठी-बैठी करूँ भी क्या? अब तेरी बहू आ

जायेगी, तो मैं संग-साथ पा जाऊँगी। तब छोड़ दूँगी।

'चुनाचे ब्याह हुआ। बहू आई। कुछ दिन तक ठीक चला। बहन छिपे तौर पर मेरे द्वारा अपनी रोजी चलाती रही। प्रगट में वह बेकार लगती थी। तब बहू ने आकर शासन शुरू किया। और बहन चुपचाप सब झेलती रही। यहाँ तक कि मेरा और उस बहन का दर्जा एक-सा हो गया, लेकिन बहन की रोजी मेरे द्वारा छिपकर चलती रही। रात को सब सो जाते तो वह दीप जलाकर चुपचापँ कलाबत्तू के नमूने काढती और मैं बेच आती। अब बहू का अत्याचार और बढ़ा। भाई से शिकायतें शुरू हुईं और वह कुछ नहीं बोला। बहू कहती : अरी अपने को तो खा गई! इन हाड़ों को ऐसे मत पाल राँड़! काम कर दारिये! [1]और अंत में भाई एक दिन बहन को मारने को खड़ा हो गया। तब बहन हँस पड़ी और कहने लगी: भैया! हाथ मत उठा। मैं घर छोड़ जाती हूँ। तेरा हाथ उठ गया है। मैं जानती थी कि ऐसा होगा। मैंने अब तक अपनी रोज़ी कमाई है। इतने दिन के खर्चे के लिये तुझे आजतक की रोज़ी चुका जाती हूँ। स्त्री तब ही पिटती है जब उसको पेट के लिये दबकर रहना पड़ता है।

'भाई का यह सुनना था कि धरती पाँवों के नीचे से खिसक गई। बहन ने कहा : भैया! तू जब अकेला था तब मुझसे कहा करता था कि मेरे रोजी कमाने से तेरा अपमान होता था। पर अब तेरी औरत मुझे झाड़ू मारती है तब तेरा अपमान नहीं होता। फिर भी मैं नहीं बोली। आज तू भी हाथ उठाने को आ गया। मैं इस दिन के लिये भी तैयार थी। इस लोक में दया, स्नेह और ममता, अपने परिवार में ही रहती है। और वही ठीक है, क्योंकि यहाँ स्त्री-पुरुष एक दूसरे में गुँथे हुए रहते हैं। अधिकार और पद का मूल आधार धन है। जिस प्रकार पुरुष पुरुष का, और स्त्री स्त्री की शत्रु है, उसी प्रकार पुरुष और स्त्री परस्पर मित्र भी हैं, और शत्रु भी। अपनत्व की भावना ही सारी सहिष्णुता की जड़ है।'

श्यामला की यह कथा मुझे बहुत बड़ा सबक दे गई है। पुरुष के एक स्त्री आती

---

१. दारिआ—दारिका—वेश्या। स्त्रियों में यह शब्द 'दारी' के रूप में अब भी प्रचलित है।

है। स्त्री घर छोड़ती है अपने पिता का और पुरुष में लग जाती है। और फिर उसके अपने बच्चे होते ह। और इसके बाद वह अपने की ममता में ऐसी बँध जाती है कि कुछ अंत नहीं होता।

यों कभी-कभी मैं सोच लेती हूँ किंतु यह सब मुझे भारालस कर देता है। मेरी बिटिया अब चौदहवें में लग रही है। है वह कितनी सुंदर! इसका विवाह किससे हो! उठान लड़की है। अनिंद्य है इसका रूप!

यों मैं सोचती रही, सोचती रही। मगध का राजकुमार कुणिक है। पर वह अभी छोटा है। मगध में नहीं। अवन्ति में कोई नहीं। गणराज्यों के क्षत्रिय! नहीं, वे भी ठीक नहीं रहेंगे। वत्स का उदयन भी जोड़ का नहीं है। वह भी छोटा रहेगा। एक ही बेटी है। बाप ने इसे बेटा समझकर पाला है। क्या है जो लड़कों को सिखाया जाता है और इसे नहीं सिखाया गया! श्यामला तो कहती है कि वसुमति वास्तव में वसुकुमार थी। अब स्त्रीत्व के चिन्ह प्रगट होने से इसमें अवश्य लज्जा आ गई है, वर्ना बातचीत में तो यह लड़कों की तरह मुखर है। इसने लड़के देखे ही कहाँ है। चारों ओर देखती हूँ तो कोई राजकुमार मुझे इसके अनुरूप नहीं दिखता। फिर किससे होगा इसका विवाह। ज्योतिषियों से पूछती हूँ तो वे कुछ नहीं बता पाते। श्यामला कहती है: 'भट्टारिके! राजकन्या के विवाह की चिंता न करें। अपना-अपना भाग्य हरएक का होता है। इनका भी है। दैव तो पहले ही से जोड़ा मिला देता है। कन्या की तो चिंता ही नहीं करनी चाहिये, क्योंकि विधाता उसके लिये तो पुरुष को पहले ही पृथ्वी पर भेज देता है।' सचमुच! क्या यही होता है इस संसार में?

श्यामला ने आकर कहा: 'देवी! कुमारी रथ पर घूमने जाना चाहती हैं।'

मैंने कहा: 'ले जा श्यामला! तू संग जा। और कौन जायेगी साथ?'

उसने कहा: 'देवी! उनकी मुँह लगी सखियाँ तो वे ही तीन हैं। मंगला, विरजा और सुनामा।'

'हाँ ठीक है। सेना भी साथ रहे।'

श्यामला चली गई।

मंगला एक दासी है। उसे महाराज ने बचपन में असहाय बिकते देखकर ख़रीद

लिया था। एक, पार्श्वनाथ के अनुयायी, जिन श्रमण ने उसे बहुत बचपन में पागल कुत्ते से बचाया भी था। यहाँ वह वसुमति के साथ खेलकर बड़ी हुई और दोनों में इतना स्नेह हो गया है।

किंतु, मैं सोचती हूँ। स्त्री का प्रेम भी क्या ? लोग कहते हैं कि स्त्री का हृदय बड़ा दृढ़ होता है। परंतु मैं यही मानती हूँ कि स्त्री की प्रीत परिस्थितिवश बदलती रहती है। या यों कहूँ कि अपने सुख के कारण स्त्री का स्वार्थ उसे विभिन्न दशाओं में विभिन्न रूपों में प्रेरित करता है।

विरजा सेनाध्यक्ष रुद्रवर्मा की बेटी है। पहले तो दिन-रात राजकन्या की सेवा में रहती थी। अब विवाह हो गया है तो पतिगृह चली गई है। सुखी है। जब कभी आती है तो सखी से मिलने अवश्य आती है।

सुनामा है चंपा के महाश्रेष्ठि नंदक की बिटिया। दो बरस छोटी है वसुमति से। गुड़ियों का खेल खेलती है।

रथ आ गया। सुवर्ण और रत्न-जटित। लड़कियाँ चली गईं। मैं याद करने लगी। चंपा का वैभव मैंने कई वर्षों से देखा है। यह बहुत ही सुंदर नगर है। चंपा नदी, प्रासाद, उपवन, जलाशय, मार्ग, सब मुझे भाते हैं। दूर-दूर से यहाँ व्यापारी सार्थ लेकर आते हैं। नगर के बाहर कुछ दूर तक बहुत ही सुहावना वन प्रदेश है; फिर प्रारंभ हो जाते हैं वे खेत, जो वर्षा और शीत में हरियाली से लहलहा उठते हैं। उनके बीच-बीच में, घने पेड़ों के बीच-बीच में गाँव हैं। मैं उनमें नहीं गई हूँ। मैंने केवल वे ग्रामीण देखे हैं जो आकर मुझे देखकर भेंट देते हैं, और उनकी स्त्रियाँ मंगलगीत गाती हैं। मैंने उनमें गुड़ बँटवाया है, लावा बँटवाया है। इस दृष्टि से हमारा राज्य बहुत संपन्न है, यद्यपि छोटा है।

मैं उठी और महाराज के प्रासाद की ओर चली। दासियों ने सूचना दे दी।

मुझे देखकर महाराज मुस्कराये। कहा : 'आओ देवी ! तुम भी देखो।'

वे श्वेत धोती पहने थे। शरीर और भुजा पर आभूषण थे। आँखें वही स्वप्न-लोक में झाँकती-सी थीं। बाँये कंधे पर रेशमी उत्तरीय पड़ा था और वे एक बड़े तखत पर बैठे थे जिसपर पारसीक कालीन बिछा था। सामने एक रेशम का टुकड़ा था।

मैं एक किनारे बैठ गई। और कहा: 'देव! आज व्यस्त ह?' फिर कह उठी: 'कब नहीं रहते स्वामी!'

महाराज ने कहा: 'देखो देवी! यह मेरी नई योजना है। इसे मैं परिषद् के सामने रखनेवाला हूँ।'

मैंने देखा और कहा: 'देव! यह तो कोई नक्शा है!'

'हाँ देवी!' महाराज ने प्रसन्न होते हुए कहा: 'राज्यकोष में इस समय फिर काफ़ी धन इकट्ठा हो गया है। परिषद् न राजकुल के लिये जो धन निर्धारित किया, वह मेरी समझ में आवश्यकता से अधिक था। मैंने उसे अलग रखा जो हमारी आवश्यकता से अधिक निकला। जो बेकार लोग बाकी हैं, उन्हें काम में लगाने के लिये मैंने यह सोचा था कि कुछ नये सरोवर खुदवाये जायें। उनकी स्थिति कहाँ हो, मैं यही तय कर रहा था।'

मेरे पति की चिंता सदैव मेरी चिंता भी रही है।

मैंने कहा: 'देव! यह तो ठीक है किंतु आपको कुछ घर की भी चिंता है?'

'क्यों? क्या हुआ?' वे चौंक उठे।

मैंने कहा: 'पुत्री अब युवती हो चली।'

'तुमने कैसे जाना!' और पुरुषोचित अज्ञानता से यह आकस्मिक आश्चर्य प्रगट करके वे मेरी ओर देखकर कुछ सकुचा गये और कहा: 'इतनी बड़ी हो गई!'

उन्होने मेरा हाथ पकड़कर मुझे पास खींच लिया और कहा: 'धारिणी!'

मैं देवी, भट्टारिका, महारानी आदि शब्द सुनने की इतनी आदी हो गई हूँ कि जब कभी वे मुझे मेरा नाम लेकर पुकारते, तब मुझे लगता कि वे सारे व्यवधान दूर करके मुझसे बातें कर रहे हैं। उस समय मेरा मन उमड़ उठता। उस समय यदि लज्जा मुझे न रोकती, तो मैं स्वामी न कहकर, उनसे कहती—'प्राण! मेरे प्राण!'

पर वह संकोच मैं कभी नहीं जीत सकी। मन ही मन दुहराती रही हूँ पर जीभ पर जाने क्या अटक लग जाती थी! मैंने कहा कुछ नहीं, केवल देखा। जानती हूँ मेरे ऐसे नयन कुछ कहते हैं, क्योंकि वे बहुत पास के स्वर म बोलने लगते हैं; तब हम केवल स्त्री-पुरुष होते ह।

बोले: 'समय कितनी जल्दी बीत जाता है धारिणी!'

समय ! मुझे उस अव्यक्त सत्ता के प्रति भय हुआ । वह कभी अपने रूप में नहीं दीखता, दूसरों के परिवर्तन में दिखाई दिया करता है ।

फिर कहा : 'सचमुच ! हमारे विवाह को कई वर्ष बीत गये। पर कुछ पता ही नहीं चल सका । धारिणी ! मैं बहुत सुखी हूँ ।'

मैंने उनके मुँह पर हाथ रख दिया भय से । कहा : 'स्वामी ऐसा न कहें ।'

'क्यों ?'

'इसलिये कि दैव कहीं सुन न ले ।'

वे हँसे । तब मैं भी हँस पड़ी ।

'बिटिया कितनी छोटी-सी थी ! अब वह ब्याह के लायक हो गई है । चली जायेगी !'

और उन्होंने एक लंबी साँस ली । आँखों में आँसू-से आ गये । मैंने कहा : 'छिः स्वामी ! क्या करते हैं, लोक में जो होता आया है, वह क्या नहीं होगा ?' यह कहते हुए जाने क्यों मेरी भी आँखें भर आईं और मैंने कहा : 'लड़की पराया धन है, यह क्या सनातन से नहीं कहा जाता ?'

'फिर ? फिर हम-तुम रह जायेंगे । केवल दो !' स्वामी ने कहा : 'इतने दिन जो जीवन का एक त्रिकोण बन गया था, वह नहीं रहेगा हमारे साथ ।'

मैंने कचोट को समझा और कहा : 'स्वामी ! अङ्गदेश का क्या होगा ? इसका उत्तराधिकारी कौन होगा ?'

वे नहीं बोले ।

मैंने ही कहा : 'पुत्री का विवाह करने के बाद, आप एक और विवाह कर लें । शायद वह स्त्री आपको एक पुत्र दे सके !'

'क्या कहती हो !' स्वामी ने मुझे अपने वक्ष से लगाकर कहा : 'निष्ठुर ! कैसे कह सकीं तुम ! क्या राज्य मेरे हृदय से भी बड़ा है ? उत्तराधिकार की तृष्णा क्या मेरे प्यार से भी बड़ी है ? तुम मेरी पत्नी हो धारिणी ! तुम्हारे रहते क्या मैं ऐसा कर सकता हूँ !'

मैं काँप उठी ।

उन्होंने मेरा कंपन जान लिया और हँसकर कहा : 'काँप उठीं ?—तुम्हारे

रहते---शब्दों को सुनकर ? प्रिये ! तुम अब एक शरीर नहीं हो । तुम मेरी आत्मा में समा गई हो । तुम न भी दिखो मुझे बाहर, पर भीतर से कैसे निकल सकोगी ? मेरे मन में जो बैठ गई हो !'

वह क्षण कितना मादक था । मैं रो उठी अपने हर्ष से । एक स्त्री के जीवन की और सार्थकता ही क्या है ? उसका पति उसकी सत्ता को पार्थिव से ऊपर अनुभव करके अपने भीतर चेतना के रूप में आत्मसात कर चुका था ।

हमारा प्रेम एक संवेदना है, जो किसी मूर्त्त आधार को लेकर प्रारंभ होता है । वह मन में पलता है और रोम-रोम में व्याप्त हो जाता है । मैं उसको देखती हूँ तो लगता है कि मेरी सत्ता केवल एक उसकी भावनामात्र है, क्योंकि सुख और दुःख उसके भीतर ही अपना समावेश कर लेते हैं ।

प्रकोष्ठ की नीरवता में हम दोनों बैठे रहे । मुझे याद है, हमने अनेक बार अपने एकांत में ऐसे ही नीरव क्षण व्यतीत किये थे । आंगिक चेष्टाएँ जब शिथिल हो जाती हैं, उसके उपरांत मन चलने लगता है, किंतु एक सीमा ऐसी भी आती है जब मन अनुभव करता है कि वह भींगकर बहुत भारी हो गया है, बहुत सिक्त हो गया है; तब वह भी अपनी गति को भूल जाता है । उसे ही प्रेमी लोग तृप्ति कहा करते ह, जब कहने और सुनने को कुछ भी शेष नहीं रहता ।

वातायन से आता प्रकाश अगरुधूम पर पड़ता, जिसकी लहरियाँ बिखरतीं और निस्तब्ध-सी प्रकोष्ठ में विलीन हो जातीं । जब उनका रूप अरूप हो जाता, तब उनकी गंध उनका अस्तित्व प्रगट करने लगती ।

लोक का प्रसार जब सब जगह से सिमटकर नयनों में आकर केन्द्रित हो जाता है, तब मन अपने आपको समर्पित कर देना चाहता है । ऐसा ही तो हो गया था उस समय मेरा हृदय ।

मुझे लग रहा था कि मेरा जीवन सार्थक था । लोक की मर्यादा का एक सत्य होता है, जो आवश्यकताओं से जन्म लेता है । आवश्यकता भूत, वर्तमान और भविष्य को देखकर अपने विवेक को स्थिर करती है । हम सदैव उसीके अनुकूल तो चला करते हैं । किंतु जिस क्षण में मनुष्य उस विवेक को छोटा समझने लगे, उस समय वह क्या हो जाता है ? पूर्ण ??

नारी और संतान !

अविच्छिन्न रूप से दोनों बँधे हुए हैं। यह क्या झूठ है कि हर एक स्त्री माता बनने की इच्छा रखती है। स्त्री जब पुरुष से विवाह करती है, तब उसकी इच्छा होती है कि वह माँ बने ! क्यों ? पता नहीं। मेरी भी इच्छा हुई थी, और वसु को पाकर मेरी वह इच्छा कितनी पूर्ण हुई थी ! लगा था जैसे न जाने क्या पा लिया था ! सचमुच एक देह से दूसरी देह का आगमन मनुष्य के जीवन में कितने बड़े ममत्व का सृजन करता है ! पशुओं तक में माँ अपने बच्चे को छाती से चिपटाये डोलती है। गाय अपने बच्चे को चाटती है। किंतु पशुओं में जब बच्चा बड़ा हो जाता है तब माँ उसे छोड़ देती है। केवल मनुष्यों में ही माता-पिता अपने को अपनी संतान में निरंतर बाँधते जाते ह। जैसे-जैसे बच्चा बढ़ता है, वैसे-वैसे ही ममत्व अपने अनेक हाथ फैलाने लगता है। पशु और मनुष्य के बीच में जो यह भेद आ गया है उससे मनुष्य के जीवन में भी कितनी दुरूहता आ गई है। सहज मातृत्व की भावना भी उत्तराधिकार के स्वत्व में बदल गई है।

उत्तराधिकार और प्रेम आज लोक में अविभाज्य हो गये हैं। स्त्री यदि संतान को जन्म नहीं दे सकती तो अपना धर्म नहीं पालती। पुरुष को उससे सामाजिक हानि होती है, किंतु स्त्री को उससे अपनी आत्मा के विकास की ही हानि होती है। पुरुष हज़ार काम करता है; क्योंकि कामवासना उसके लिये क्षणिक है, उसके पौरुष का एक अंगमात्र है, जबकि कामवासना स्त्री के लिये संतान का रूप धारण करके उसके अस्तित्व का रूप ही बदल देती है। इस दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि स्त्री का काम ही केवल मातृत्व है। और यदि स्त्री इससे विद्रोह कर दे तो ? सृष्टि रुक जाये ! किंतु क्या स्त्री ऐसा कर सकती है ? उत्तराधिकार क्या है ? स्त्री के शेष जीवन की रोटी। कुछ ऐसा ही तो है कि स्त्री अपने पेट के लिये लोक को फँसाये हुई है। बालापन में पिता उसे चाहिये। वही उसे पालता है। बाद में स्त्री अपनी और लोक की आवश्यकता के लिये माँ-बाप को छोड़कर चली आती है, दूसरी जगह को अपना कहती है। कहती है, मन के प्रेम का आधार अपने जीवन का सत्य मान कर; परंतु यह एक आंशिक सत्यमात्र है। मन का प्रेम शारीरिक क्यों हो? यदि शारीरिक हो तो उसे विवाह क्यों चाहिये? भाई और बाप से क्या मन का

पवित्र प्रेम नहीं हो सकता? परंतु विवाह होता ही है लिंगभेद से। प्रेम का पूर्णत्व दो भिन्न लिंग के प्राणियों में ही माना जाता है। और यथार्थ का सत्य यह है कि पति से पत्नी का केवल मन का प्रेम नहीं होता। होता है शारीरिक भी। पुरुष स्त्री को अपने आनंद साधन के लिये लाता है, और स्त्री आती है अपने पेट के लिये। परंत क्या यही सत्य है? क्या स्त्री उस आनंद साधन में पुरुष को अपना एक साधन ही नहीं मानती? क्या स्त्री के मन के प्रेम की पूर्णता उस शारीरिक संबंध के बिना ही जीवित रह सकती है? यौवन क्या दोनों ओर एक-सा नहीं पलता? आगे चलकर बुढ़ापा और संतान—दोनों अपना संतुलन करते हैं। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि बुढ़ापे में सहारे की जरूरत होती है। और इसलिये स्त्री अपने पुत्र पर आश्रित होती है। पुरुष तीनों अवस्थाओं में स्त्री की ही भाँति होता है, परंतु वह फिर भी अपने को असहाय नहीं मानता। क्यों? क्योंकि वह स्वयं यौवन में अर्जन करके अपने बुढ़ापे का इंतज़ाम कर लेता है। इसीलिये लोक में पुत्र की कामना होती है।

कन्या का व्यर्थत्व इसीसे प्रमाणित होता है कि वह जब बड़ी होती है, तब अपने पालने वालों को छोड़कर पराये पुरुष के साथ चली जाती है। और जब उसके अपने बच्चे हो जाते हैं, तब उसे जितने प्यारे वे बच्चे लगते हैं, उतना उसे और कोई नहीं लगता।

मैं एकदम घबरा-सी गई मन ही मन। यह मैं इतनी जल्दी इतना सब कैसे सोच गई। क्या था मेरे हृदय में जो मैं ऐसी उथल-पुथल में जा पड़ी थी! यही न, कि मेरी कोख से किसी पुत्र ने जन्म नहीं लिया था। अपने स्त्रीत्व की पूर्णता मैं प्रमाणित नहीं कर सकी थी।

प्रेम वासना है या अमूर्त्तकल्पना, यही मेरे सामने आने लगा। मैं पति को पुत्र नहीं दे सकी, तो क्या मैं अपने आप में कुछ नहीं थी? मन के भीतर से किसी चोर ने कहा: धारिणी! सत्य को सिर उठाकर देख। यह बता कि यदि तेरे पति नपुं-सक होते, तो क्या उनके पौरुषविहीन व्यक्तित्व से अपने को बाँधे रह सकती थी? पुरुषदेह से जब तू पुरुषधर्म की आकांक्षा करती है, तब स्त्रीदेह से पुरुष ही स्त्रीधर्म की आकांक्षा क्यों न करे?—तब मैं झनझना उठी। तो प्रश्न उठा कि देहधर्म ही तो सब कुछ नहीं है? विवाह देहधर्म को यंत्र की भाँति नहीं चलाता, वह एक प्रेम

भी तो पैदा करता है ! उस समय ही जान पाई मैं और मैंने देखा कि प्रेम दुःख के प्रति मनुष्य की लड़ाई थी; स्त्री में वही प्रेम बनता है जो पुरुष में वैराग्य। एक जीवन और लोक का सामंजस्य है, दूसरा व्यक्ति और लोक का अलगाव। क्योंकि स्त्री का शरीर परंपरा को बाँधनेवाली कड़ी है, वह सामंजस्य है; क्योंकि पुरुष का शरीर एक साधनमात्र है; जिसे अपनी सार्थकता नहीं मिलती, वह अपना पूर्णत्व और किसी तरह से सोचता है। स्त्री अपनी गोद भर जाने पर निहाल हो जाती है, परंतु पुरुष अपने को वहीं पूर्ण नहीं समझता। स्त्री का अहंकार ममता बनकर नये जीवन के लालन-पालन और विकास में अपना समर्पण कर देता है, परंतु पुरुष की वासना क्षणिक होती है; वह समर्पण नहीं कर पाता। वासना के अंत में स्त्री आनंद लेती है और वह आनंद उसके जीवन का नया रूप बन जाता है। परंतु पुरुष की वासना का अंत उसकी शक्ति का क्षय होता है !

अपने पशुत्व के आवेश को मनुष्य ने कितने-कितने नाम दिये हैं कि मैं सोच नहीं पाती। हम जिसे विवश होकर करते हैं और प्रकृति के जिस धर्म को हमने पाप और बंधन कहकर स्वीकार किया है, उसीको वैसे कितने आदर्श शब्दों में बाँधने का भी प्रयत्न किया है !

और तब मुझे ध्यान आया। कहा : 'स्वामी ! विवाह के बाद वसु चली जायेगी न ?'

'हाँ वह चली जायेगी !'

'फिर हम दोनों रह जायेंगे।'

वे नहीं बोले। केवल आँखें भीग आईं।

फिर हँसकर कहा : 'वसु को तो इससे दुःख नहीं होगा ?'

'कैसे भला ! घर छोड़ते हुए क्या कन्या को दुःख नहीं होता ? जिनके संग बचपन से रही, उन सबको छोड़ते हुए क्या उसे वेदना नहीं होती ? स्त्री जन्म क्या अच्छा होता है जो उसे इतने दुःख को सहज और स्वाभाविक कहकर स्वीकार करना पड़ता है !'

'यह तुम झूठ कहती हो देवी !' महाराज ने कहा : 'याद करो, जब तुम आई थीं। क्या तुमने मुझसे नहीं कहा था कि विवाह के बाद तुमने अधिक संतोष प्राप्त

किया था !'

तब मेरे सामने यौवन के उन रंगीन दिनों के चित्र नाच गये। और वे कहते गये : 'वह सब क्या झूठ था ?'

मेरी ओर देखा। मैंने कहा : 'नहीं ! झूठ नहीं था।'

'तो आज वह सत्य क्यों याद नहीं रहा !'

'स्वामी ! स्त्री का जीवन कितनी बड़ी विडंबना है, इसे कैसे कहा जा सकता है ! बचपन से ही सुनती आई थी कि पति के घर जाना होगा, सो आ गई थी रो-धोकर। तुम ही मेरे सब कुछ बने। तुमने अपनी ओर से मुझे सब कुछ दिया। पर ऐसा क्यों होता है स्वामी ! प्रेम में पुरुष का स्वामित्व ही क्यों होता है ? स्त्री ही क्यों घर छोड़ती है ?'

क्षण एक वे चुप रहे, फिर धीरे से कहा : 'प्रिये ! स्त्री विवाह क्यों करती है ?'

मैं नहीं उत्तर दे सकी एकदम। कहना चाहा—प्रेम की प्यास बुझाने को। परंतु अपने इस वाक्य को कहने का अधिकार ही मैंने खो दिया। न जाने किस अज्ञात कटुता ने मन में विष-सा घोल दिया और कह उठी : 'विवश होती है न ? आखिर कैसे जीवित रहे ! आखिर अपने पालने वालों पर बोझ बनकर कब तक रहे !'

'स्त्री की विवशता विवाह का मूल कारण है ?' उन्होंने कहा : 'सच कहती हो। क्योंकि स्त्री अपने स्वार्थ के कारण विवाह करती है, इसीलिये पुरुष भोगी बन जाता है और स्त्री की एकमात्र सार्थकता—संतान को उससे पाने के लिये स्त्री को क्षेत्र (खेत) मात्र समझता है।'

वे हँस उठे, मैं लजा गई। उनके स्वर में समर्थ व्यंग्य नहीं था, कुछ अपने ऊपर ही ग्लानि-सी थी। धीरे से बोले : 'धारिणी ! जीवन के सत्य मूलतः बहुत कठोर और घृणित हैं। हम उनपर पर्दा डालकर रहते हैं। फिर बता सकती हो कि पुत्र न होने का तुम्हें इतना दुःख क्यों है ? मैंने तो कभी तुमसे उत्तराधिकारी नहीं माँगा ? मेरे बाद यह राज्य किसीका भी हो जाये, मैं इसकी चिंता कब करता हूँ ? शायद तुम सोचती होगी कि मेरे बाद यदि तुम्हारा पुत्र ही उत्तराधिकारी नहीं हुआ, तो नया शासक तुम्हें आदर और सम्मान नहीं देगा। उसे तुम अपना

नहीं कह सकोगी ! यही भय है न तुम्हें ? तो अपनी कहो ! परंतु यह अवश्यम्भावी है कि मरना तुम्हें भी है। फिर तुम क्यों डरती हो ? स्त्री इतनी समर्थ क्यों नहीं बन जाती कि वह अपना पेट स्वयं भर सके ? अबला क्यों बनी रहती है वह ? कहते हैं प्राचीनकाल में एक राजा दुष्यंत था, जिसने अपनी स्त्री शकुंतला को गर्भ की अवस्था में छोड़ दिया था। तब उस स्त्री ने स्वयं पुत्र को पालकर महापराक्रमी बना दिया था। स्त्री में क्या सामर्थ्य नहीं है ? वह अपने आराम के लिये अपने को पुरुष पर डाल देती है और फिर इतना भार डालकर दिखावा करती है कि वह स्वयं दुखी है। यदि स्त्री विवाह न करे तो वह दुखी कहाँ है ? क्या जरूरत है उसे विवाह की, जब वह यह मानती है कि पुरुष उसका योग केवल शारीरिक वासना मिटाने को करता है ! क्यों बनती है वह पुरुष की दासी ? वीरता से सामना क्यों नहीं करती ? क्यों वह संतान की इच्छा करती है, जब वह जानती है कि वह पराधीन ही है ?——मैं इसके लिये पति ढूँढूँगा——कहने वाला पिता जब चलता है, तब पुत्री क्यों नहीं कह देती कि——पिता ! मैं यहीं रहूँगी। मैं विवाह नहीं करूँगी। मैं पुरुष का भोग्य नहीं बनना चाहती। मैं काम करूँगी, कमाऊँगी, खाऊँगी।—— स्त्री वासना की दासी नहीं, पुरुष ही है लोलुप वासना का दास !'

वे कहते रहे, मैं सुनती रही। परंतु वे जैसे बोल रहे थे, उससे उनके बारे में मैं यही सोच पाई कि वे केवल सोच रहे थे, ठंडा था उनका विवेचन। आवेश नहीं था उसमें।

उन्होंने फिर कहा : 'धारिणी ! तो सचमुच स्त्री के साथ अत्याचार होता है, और स्त्री इसका सहन करती है ? क्यों ? हाँ, तुम स्वयं कह चुकी हो कि वह ऐसा करने को विवश है ! तो धरिणी ! यदि स्त्री और पुरुष विवाह ही न करें तो ?'

मैं अचकचा गई। कहा : 'छिः स्वामी ! ऐसा कैसे हो सकता है ? सृष्टि कैसे होगी !'

'सृष्टि ! क्या मतलब ? संतान ?? उसकी जरूरत ही क्या है ?'

मैं उत्तर नहीं दे सकी। मेरे पति के चिंतन में केवल कल्पना ही है, यह मुझे तभी पता चला। और ऐसा आदमी राजा था !

'दासत्व है यह', स्वामी ने कहा : 'यह निश्चय ही दासत्व है। तुम मानती हो

कि मरने के बाद पुत्र जब तर्पण करता है तब पितरों की तृष्णा मिटती है ? मैं नहीं मानता। यदि पुत्र के कर्म से पिता का तारन होता है, तो पिता का कर्म अपना फल क्या पाता है ? धारिणि ! मनुष्य इसी परलोक के अनजाने विवश विश्वास के कारण चलता चला जा रहा है। जब आत्मा स्त्री और पुरुष दोनों ही के शरीरों में समान है, तब लोक की वेदनाएँ और संज्ञाएँ भी बाहरी और पार्थिव आकृतियों तक ही सीमित हैं। लोक में सब सत्य और शांति के मार्ग खोज रहे हैं। अनेक युवक अपने-अपने घर-बार छोड़कर पथों, वनों, और निर्जनों में घूम रहे हैं। सब कुछ दुःख में डूबा हुआ है। वासना के कारण ही स्त्री और पुरुष का द्वन्द्व है, क्योंकि दोनों ही एक दूसरे पर पूर्ण अधिकार चाहते हैं !'

मैं मन ही मन घबरा उठी क्योंकि मैंने उनके स्वर में एक बहुत ही कठोर ठंडा-पन पाया।

'अधिकार !' मैंने बात को टालना चाहा : 'नहीं स्वामी ! रसोई के बर्तन हमेशा टकराकर खनखनाते ह, परंतु उससे क्या होता है। मैं तो आपकी परीक्षा लेती थी कि कहीं मैं पुत्र को जन्म न दे सकी, इससे आप मुझसे घृणा तो नहीं करते ?'

'तो तुम्हारे अंदर एक चोर था अवश्य ! पुत्र को जन्म न दे पाने के कारण तुम स्वयं कुछ अभाव अवश्य अनुभव करती हो ! है न यही बात ?'

और मैं 'ना' न कर सकी। पता नहीं क्यों पुत्र की माता हुए बिना मैं अपने को सचमुच सार्थक नहीं समझती ! क्या हो जायेगा यदि मेरे पुत्र भी हो जाये तो !

जब मैं अपने प्रासाद में आ गई, मेरा मन रोने की इच्छा करने लगा। पर मैं रोई नहीं। श्याभला आई और मुझे देखा। मैंने इंगित किया तो श्याभला बैठ गई। उसने कहा : 'देवी ! राजकन्या ने नगर में अनेक लोगों को दीन-दुखी देखा तो दान की आज्ञा दे दी।'

मैंने कहा : 'सच, बिटिया का मन बहुत बड़ी करुणा से भरा है।'

'देवी ! बिटिया को बाहर न जाने दिया करें !'

मैं चौंकी। कहा : 'क्यों श्याभल !'

'बिटिया का मन नरम है। है न ?'

'होगा ही। उसे बुराई सिखाई ही किसने है? उसके पिता को तो तू जानती ही है। अपने कल्पना लोक में रहते हैं।'

'परंतु राज्य तो राज्य है देवी! अच्छी गिरस्ती के मालिक को भी संसारी ज्ञान रखना पड़ता है। आप भले तो जग भला वाली बात क्या सचमुच काम आती है? दुनिया में तो तरह-तरह के लोग होते हैं! होते हैं न?'

उसका अंतिम प्रश्न मेरे सामने उसकी भौंओं में ऊपर उठकर ठहर गया। मैंने कहा : 'लेकिन हुआ क्या?'

'हुआ यही! दान की आज्ञा हुई।'

'तो अच्छा ही तो है श्याभले! जिसके पास है वही तो देगा। करुणा को तो संचय से बड़ा कहा गया है!'

परंतु करुणा कहाँ तक देवी! सबकुछ लुटाकर? शिबि बनाना हो दुहिता को तो और बात है। मैं फिर ठहरी दासी! मुझमें न इतनी बुद्धि है, न इतना साहस कि टोक सकूँ। परंतु बचपन से बिटिया को पाला है, इसी कारण कहती हूँ। और कहती भी वही हूँ जो लोक में होता है। आगे उसकी अच्छाई-बुराई के बारे में आखिर सोच भी कितना सकती हूँ? मेरी बुद्धि ही कितनी!'

'क्या दान देने को कहा उसने?'

'यही कि कोई दरिद्र न रहे। राजकोष से इन्हें धन दिया जाये।'

'पर वह तो महाराज ही कर सकते हैं श्याभले!' मैंने हँसकर कहा : 'और महाराज सदैव परिषद् से सलाह करके काम करते हैं!'

'यही तो कहती हूँ देवी! यह आज्ञा पूरी न होगी तो दुहिता को दुःख पहुँचेगा। यह सोचकर मैंने तभी कह दिया राजकन्या से कि यह तुम्हारे अधिकार की बात नहीं है। राजकन्या को इसमें अपमान-सा लगा। कहा : क्यों? इसके लिये स्त्री नहीं बोल सकती!'

'क्या कहा!' मैंने चौंककर पूछा।

'देवी! वहाँ एक स्त्री थी। उसका पति छोड़ गया था उसे। उसके छः बच्चे थे। राजकुमारी के चरणों पर आ गिरी। भूखे थे सब। राजकन्या ने कहा : 'वह तुझे छोड़ गया तो रोती क्यों है?—वह बोली : क्या करूँ यह बच्चे भूखे रहते ह।

इनके लिये क्या करूँ ?——राजकन्या ने कहा : तू इनकी चिंता क्यों करती है, जैसे वह पिता होकर छोड़ गया, तू भी छोड़ दे।——वह बोली : परंतु माँ तो मैं हूँ ! ——यह सुनकर राजकन्या ने मुझसे कहा : श्याभला अम्मा ! माँ होने से क्या हो गया।——मैंने कहा : राजकन्ये ! अभी आप नहीं समझेंगी। माँ कैसे छोड़ देगी उन्हें।——परंतु वे नहीं समझ सकीं। उस स्त्री से बोलीं : तू असहाय क्यों बनती है री ! तू भी अपना प्रबंध कर ! जब वह छोड़ गया तो तू भी छोड़ दे। स्त्री भी समर्थ बनेगी, तभी पुरुष का अत्याचार बंद होगा।——देवी ! हमारा सारथि है न बूढ़ा खलिक। बोला : राजकन्ये ! माँ की ममता को तुम नहीं समझोगी।——राजकन्या ने रथ आगे बढ़वा दिया। हम मना करते रहे, पर वे न मानीं। रथ मर्ज़ी से बढ़वा ही तो दिया। तब क्या ? फिर वेश्याओं का वेश मिला ! भला देवी ! वह जगह राजकन्या के जाने की है ? वहाँ कभी भले घर की स्त्री गई है ? परंतु राजकन्या ने रँगी-पुती वेश्याएँ देखीं तो बोलीं : यह कौन हैं ऐसी रँगी-पुती हैं ?——मैंने कहा : वेश्याएँ हैं।——बोलीं : अच्छा यही हैं वे स्त्रियाँ जिनके बारे में पुस्तकों में लिखा है कि यह किसीकी नहीं होतीं। अपने को धन के लिये बेचती हैं ! ——देवी ! मैं क्या उत्तर देती। मैंने कहा : यह तो अपना-अपना भाग्य है राजकन्ये ! ——तो राजकुमारी ने कहा : पुरुष स्त्री को ऐसा भी रखता है। स्त्री क्यों स्वीकार करती है इसे ?——मैंने कहा : राजकन्ये ! पेट कराता है सब। क्या करें ? ये परंपरा से यही करती आई हैं। बिचारी मजबूर हैं।——राजकन्या ने कहा : तो मर क्यों नहीं जातीं ! ——सुना आपने देवी ! राजकन्या ने कहा : तो मर क्यों नहीं जातीं ! ——भला मरना क्या सहज है ? मैंने यही उनसे भी कह दिया। बोलीं : अच्छा ! मरना सहज नहीं है ? तो सेना में इतने पुरुष जो इकट्ठे होते हैं, वे क्या मरने के लिये ही नहीं होते ? अवश्य ही पुरुष स्त्री से अधिक वीर होता है। स्त्री मरने से अधिक डरती है। पेट के लिये पुरुष मरना स्वीकार करता है, स्त्री अपनी देह को बेचती है। पुरुष ही वीर है, तभी वह शासन करता है।'

पति के शब्द मेरे कानों में, श्याभला की बात सुनते ही, गूँज उठे——देवी ! मैं इसके लिये पति ढूँढूँगा ! ——यह कहते हुए पिता जब उठता है तब वह क्यों नहीं कह देती कि, नहीं ! मैं विवाह नहीं करूँगी।

यह क्या हो रहा था, मेरे सामने !

सुनामा आई। प्रणाम करके बैठी।

मैंने कहा : 'सुनामा! घूम आई?'

'हाँ देवी!'

'राजकन्या, सुना है, दुखी हुई है। क्यों? है न?'

'हाँ देवी! कहती थीं कि स्त्री का जीवन बहुत दुःखदायी है।'

और मैं इस बात को नहीं काट सकी। क्या था मेरे मन में? अवश्य श्याभला ने कहा : 'श्रेष्ठिकन्ये! राजकन्या से पूछ कि विवाह हो जायेगा तो राजकन्या क्या कहेंगी फिर?'

जब वसु से सुनामा ने कहा : 'सखी! श्याभला कहती थी कि विवाह होजाने पर स्त्री बदल जाती है, फिर वह अपने घर की ही चिंता करती है।' तो राजकन्या ने कहा : 'ऐसा क्यों होता है सुनामा!'

सुनामा ने कहा : 'मैं क्या जानूँ?'

वसु सोच में पड़ गई।

फिर सोचकर कहा : 'सुनामा! विवाह में अवश्य मन छोटा हो जाता है।'

'तुम नहीं करोगी जैसे?' सुनामा ने हँसकर कहा और बड़ी साध से देखा। लड़की को तो विवाह में बड़ी भारी रुचि जो होती है।

वसु ने कहा : 'विवाह? नहीं। मैं नहीं करूँगी।'

'क्यों?'

'क्योंकि यह एक बंधन है।'

'बंधन क्यों?'

'स्त्री स्वतंत्र नहीं रहती न?'

'माँ स्वतंत्र नहीं है? राजमाता स्वतंत्र नहीं हैं?'

सुनामा का प्रश्न सुनकर वसु चुप रह गई।

'बोलतीं क्यों नहीं?'

'मैं नहीं जानती।'

'माँ तो कभी ऐसा नहीं कहती कि वह दासी है। उल्टे दास-दासियों को खूब फटकार कर रखती है।'

'तू क्या जाने वास्तविकता क्या है ?'

सुनामा नहीं समझी ।

बोली : 'क्या है बता दो न ?'

'सब स्त्रियाँ अपने पतियों के आधीन होती हैं ।'

'क्यों ?'

'ऐसा ही होता है सुनामा ।'

'तुमसे किसने कहा ?' सुनामा ने पूछा । वह समझ नहीं पा रही थी । उसके लिये विवाह खेल था गुड़ियों का ।

उसने मुझसे आकर पूछा : 'देवी ! एक बात पूछूँ ?'

'पूछ, बालिके !'

'देवी ! क्या आप आधीन हैं ?'

'कैसी आधीन ?' मैंने चौंककर पूछा ।

'राजकुमारी कहती हैं न ?'

'क्या कहती है ?'

'कि आप महाराज के आधीन हैं ।'

मैं मन ही मन सकुचा गई, पर हँसकर कहा : 'और महाराज के आधीन कौन नहीं है ? सारा राज्य ही उनके आधीन है ।'

'वह नहीं अम्ब !' उसने कहा : 'वह और बात है । आप महारानी तो हैं ही, पत्नी भी हैं न ? आपके पति महाराज ही हैं न ? आप पति के आधीन हैं ?'

मुझे बहुत विचित्र-सा लगा । यही बात मैं कहूँ, मैं सोचूँ, वह और बात है । पर वह बालिका कहे तो मुझे कैसा-कैसा न लगेगा ! अजीब-अजीब-सा ही न ? फिर यह है बालिका । इसका जीवन अभी मधुर है । किसी प्रकार के कल्मष की छाया इसमें नहीं है । कैसे क्या कह दूँ । सोच नहीं पाई । वसु के प्रति मन में अज्ञात भय हो गया ।

सुनामा ने फिर पूछा । तब मैंने कहा : 'एक बात पूछूँ बिटिया ?'

'हाँ देवी अम्ब !'

'तू माँ की बेटी है न ?'

'और नहीं तो !'

'मेरी भी है ?'

'हाँ आपकी भी !'

'तो हम इस प्रकार की देह क्यों पाते हैं ?' मैंने पूछा।

'पाते हैं।' बालिका ने कहा : 'माँ कहती थी कि उन्होंने मुझे एक राजहंस से पाया था। राजकन्या को भी हंस दे गया होगा ! सुनहला हंस !'

उफ़ ! मैं क्या पूछ रही थी इससे। सुनामा तो अपनी आयु की लड़कियों से भी कम जानती है ! फिर भी पूछा : 'तू माँ के आधीन है बिटिया !'

'माँ डाँटती तो है।'

'तुझे प्यार नहीं करती ?'

'क्यों नहीं करती !' बालिका ने कहा।

यह है कर्म का फल ! मैंने सोचा। शायद दो बरस छोटी है यह बालिका मेरी वसु से। ऊटपटाँग नहीं सोचती ! पर वसु के इस निर्माण में मेरा और मेरे स्वामी का कितना हाथ रहा है, यह क्या मैं सहज जान पाऊँगी ?

'तो जो प्यार करती है, उसकी अधीनता तुझे बुरी लगती है ?'

'नहीं देवी अम्ब !'

'जा वसु से कह दे। पति और पत्नी का भी ऐसा ही संबंध होता है।'

वह चली गई और दूसरे दिन मेरे पास आकर बैठकर बोली : 'देवी अम्ब ! एक बात तो बता दो। वसु ने पूछा था मुझसे। पूछूँ, कौन बनाता है ऐसी सृष्टि ? बताओ।'

मैंने देखा। लड़की मुझसे उसी भोलेपन से बोली : 'बता दो, मगर कहना नहीं वसु से कि आपने बताया है। मैं एकदम चौंका दूँगी उन्हें। जब भी बात करती ह वह तब मुझसे कहती हैं : तू नहीं समझेगी सुनामा ! यह बड़ी गहरी बात है।—भला देवी अम्ब ! मैं क्यों न समझूँगी ? हाँ, शीघ्र बता दो।'

मैंने कहा : 'बिटिया ! यह सृष्टि ? यह तो ईश्वर ने बनाई है।'

बस···बस···कहती हुई लड़की दौड़ गई। उस समय वसु कबूतरों के बीच बैठी दाना डाल रही थी और सुंदर पारावतों की गुटुरगूँ-गुटुरगूँ सुन रही थी।

उसने जाकर कहा : 'राजकन्ये ! बता दूँ ?'

'बता सुनामे !'

'ईश्वर !'

'कौन भोगता है यह दुःख ?' वसु ने कहा : 'ईश्वर ने इतने भेद क्यों बनाये ?'

सुनामा ने कहा : 'भेद कहाँ बनाये ?'

'यह देख, कितने रूप हैं !'

'तो क्या सब एक-सा होना चाहिये था ?' और सहसा ही वह खिसिया गई और कह उठी : 'हुँ ! ईश्वर क्या हम-तुम जैसा ही है। अरे ईश्वर ईश्वर है !'

उसका यह रोष देखकर मैं, जो स्तंभ के पीछे से देख रही थी, अपनी मुस्कराहट नहीं रोक सकी। परंतु वसु ऐसी गंभीर बैठी रही कि कुछ पूछो नहीं। उसने सिर हिलाकर कहा : 'ईश्वर होता तो यह सब ऐसा नहीं होता। नहीं, ईश्वर कुछ नहीं होता।' उसको देखकर सुनामा ने मुँह बनाया, पर वसु पर प्रभाव नहीं पड़ा। उसका यह रूप मुझे कुछ डराने लगा।

फिर सोचा। इस आयु का प्रभाव ही ऐसा पड़ता है। जब मैं इतनी बड़ी थी तब ऐसी ही तो थी। और भी पुरानी याद है मुझे, जब मैं तीन साल की थी। पूछा करती थी अपनी धात्रेयिका से रात को आकाश की ओर देखकर : 'यह छाकाच में नतत्तव हैं न ?' यह सारी बातें मुझे बाद में धात्रेयिका ने ही याद दिलाईं। छाकाच मेरी भाषा में आकाश था। नतत्तव था नक्षत्र। मैं पूछती थी : 'यह कितना ऊँचा है छाकाच।' धात्रेयिका कहती : 'बहुत ऊँचा है, बहुत ऊँचा है। महाशंख ऊँचा है।' मैं कहती : 'महाछंख !'

यह उसी महाछंख वाली की कोख से जन्मी बेटी ही तो है। आज सोचती हूँ तो लगता है कि हर आयु पर मनुष्य अपनी बुद्धि की सीमा के अनुसार सृष्टि की अपार कथा को सुलझाने का प्रयत्न करता है। पर पार वह कहाँ पाता है ? यदि इसी एक रहस्य को पा लिया होता तो मनुष्य का जीवन इतने वैविध्यों में क्यों संत्रस्त होता ?

तब भी वसुमति से बातें करना ही मैंने ठीक समझा। मुझे देख वह उठी। प्रणाम किया। हम बैठ गये और तब मैंने उसे समझाया कि आधीनता की बात

धन के कारण आती है, परिवार में ऐसी बात नहीं आती। परिवार स्नेह के कारण चलता है।

पर वसु ने कहा : 'परिवार क्या है अम्ब !'

'क्यों ? परिवार है रक्त संबंध पर जुड़ा हुआ गठ-बंधन।'

'पर माँ ! स्त्री उसी रक्त की कहाँ होती है। वह तो दूसरे गोत्र की होती है ?'

'तभी तो स्त्री होती है। अपने गोत्र की होगी तो बहन नहीं होगी वह ?'

'यही तो कहती हूँ माँ ! कि पराये गोत्र की स्त्री हमारी कैसे हो जायेगी ! तुमने ठीक नहीं कहा माँ, रक्त संबंध नहीं रहा।'

मैंने कहा : 'अच्छा स्नेह संबंध तो है न ?'

'स्नेह के बंधन व्यक्तिमात्र को संतुष्ट करते हैं माँ ! लोक का उनसे क्या संबंध होता है ?'

कैसा प्रश्न कर बैठी लड़की ! मैंने कहा : 'लोक क्या है ? परिवारों का समुदाय ही तो लोक होता है। लोक और कहाँ से आ जाता है। परिवार इस लोक का ही छोटा उदाहरण है, लोक एक बड़ा परिवार ही तो है। इसे अलग क्यों कहती है तू ! तभी तो कहा है कि वसुधा एक कुटुम्ब ही है।'

मैंने सोचा भी नहीं था कि वसु इतनी बुद्धिशालिनी बन गई है। मैं तो उसे बच्ची समझती थी।

पर दूसरे ही दिन वह मेरे पास आई और कहा : 'माँ यह क्या है !'

उसका मुँह फक था। मैंने कहा : 'तू अब स्त्री हो गई।'

'माँ !'

'हाँ हाँ।' मैंने कहा : 'काला कुत्ता छू जाना यही है। इसमें क्या बड़ी बात है। तू स्त्री है न ?'

किंतु इस बात का उसपर विचित्र प्रभाव पड़ा। मैंने देखा जैसे वह किसी गहरी चिंता में डूब गई थी। वह क्या था, मैं नहीं जान सकी, पर यह अवश्य सोचा कि अब इसका विवाह करना चाहिये, क्योंकि लड़की आवश्यकता से अधिक सीधी है और विचारवान भी। अन्यथा लड़कियाँ तो पहले ही से अन्य स्त्रियों से सब सीख-साख लेती हैं। श्याभला है भी सीधी। शायद बच्ची समझकर कुछ नहीं बताया

हो। यों मैंने अपने मन को बहला लिया। अपने पलंग पर ज़रा लेट रही।

साँझ की बेला में श्याभला से कहा : 'अरी श्याभले ! दुहिता का मन तो स्थिर है ?'

'है। देवी ! मैंने समझा दिया है। बड़ा आश्चर्य करती थी बिटिया !' धात्रेयिका श्याभेलिका हँसी। वह हँसी कि उसकी आयु का अनुभव हँसा ! उसने कहा : 'आयु भी कैसी विचित्र है ! बचपन भी कितना भोला होता है !'

'तूने बताया नहीं कुछ !'

'स्वामिनी ! लड़कियाँ आप जान लेती हैं। सो मैंने नहीं कहा कुछ।' श्याभला ने कहा : 'देवी ! कन्या ही तो हैं, क्या जानें वास्तविकता जीवन की है क्या ?'

'अरी मैंने तो तुझे शिक्षा देने को कहा था न ?'

'हो जायेगा सब, हो जायेगा।' दासी ने मुस्कराकर कहा : 'देवी ! यह जगत बड़ा विचित्र है। दास हो, श्रेष्ठि हो, राजा हो, महाराजा हो; सब होते हैं दैव के आधीन ! कोई यह कहे कि राजा के पास सब साधन होते हैं। अतः वह सुखी होता है, तो मैं कहूँगी कि यह नहीं जानता कि राजा भी मनुष्य होता है। उसके वैभव और अधिकार के पीछे जो होता है, वह होता तो मनुष्य ही है न ?'

'क्यों क्या कहती है तू ?'

'मैं क्या कहूँगी देवी ! काल कहता है। मैं तो सब देखती हूँ। सब समझने की चेष्टा करती हूँ, पर कुछ समझ नहीं पाती।'

मेरी समस्या कम नहीं हुई। कहा : 'पहेलियाँ क्यों बुझा रही है श्याभला ? कहती क्यों नहीं ?'

'कहूँ क्या ?' उसने कहा : 'हर एक प्राणी अपना अलग-अलग भाग्य लेकर आता है। कोई लाख-हजार जोड़कर संतान के लिये रख दे, तो क्या निश्चय ही है कि वह संतान के काम आयेगा ?'

'बता तो बात ?'

'यही राजकन्या की कहती हूँ।'

'क्यों, क्या हुआ ?'

'हुआ कुछ नहीं, पर सब अजीब ही तो है।'

श्यामला उसकी बातें बताने लगी।

'पूछती हैं—स्त्री को ही यह है कि पुरुष को भी ?—मैंने कहा : स्त्री को ही।—तो ऐसा क्यों होता है ? होता है कि देह का धर्म है ! —यह धर्म किसने बनाया ?—मैं क्या उत्तर दूँ इसका ! स्त्री क्या पुरुष की दासी है तो इसी कारण ? भला बताओ, इसका स्त्री के दासत्व से क्या संबंध। और मैं पूछती हूँ कि स्त्री पुरुष की दासी है कहाँ ? यह कौन मूर्ख कहता है देवी ! पुरुष लाये कमाकर; खिलाये-पिलाये, तो बात भी न कहे। दुनिया में कुटिल व्यभिचारी कम हैं ? पुरुष ही तो स्त्री को सबसे बचाता है। पर नहीं। राजकन्या की, यह बात, समझ में ही नहीं आती। विवाह की सुनेंगी तो कहेंगी : तो जाना पड़ेगा ? स्त्री ही घर छोड़कर क्यों जाये ?—मैं क्या उत्तर दूँ इसका। वही बात हुई न ? कि पंडित ने कहा : अ, यह बड़ा आ। यह इ, यह बड़ी ई।—शिष्य बोला : गुरुदेव ! यह अ ही अ क्यों ? मैं इसे इ की तरह लिखूँ तो कैसा हो ?—क्या करता गुरु ? बोला : बेटा, तू चाहे जैसे लिख ले, पर औरों से जब पाला पड़ेगा तब अ को अ न पढ़ेगा, अ न लिखेगा, तो कोई तेरी बात समझेगा भी नहीं।—देवी ! राजकन्या की मैं आपसे क्या कहूँ ! पता नहीं, कहाँ-कहाँ से विचार आते हैं उनके पास ! स्त्री क्यों नहीं कमाती ? भला स्त्री कमायेगी ! पर मैंने कहा : राजकन्ये ! मैं किसानों की जानती हूँ। वहाँ स्त्री भी खूब काम करती हैं, पुरुष अकेला नहीं खटता।—पर राजकन्या कहती हैं कि फिर किसानों में स्त्री क्यों पति के आधीन होती है।—अरे ब्रह्मा की सृष्टि है। इसका कोई क्या करे ?'

मैंने देखा और सोचा कि लड़की का रोग बढ़ रहा था।

श्यामला ने फिर कहा : 'सुना देवी ! वे कहती हैं कि संतान को स्त्री क्यों पाले !—तो कौन पाले, मैंने पूछा : पुरुष !—हाँ हाँ क्यों नहीं, कहती हैं वे। मैंने कहा : अच्छा वह पालता रहे तो बाहर कौन काम करे !—वही बात। एक उत्तर : पुरुष क्यों न करे घर का काम ?—मैं पूछती हूँ : संतान का क्या होगा ?—तो कहती हैं : तू क्यों समझती है कि स्त्री ही घर का काम कर सकती है !'

'घर का काम करना क्या कोई ऐसी बात है,' मैंने पूछा : 'कन्या का भाव क्या है ?'

'ब्रह्मा भी अपनी कन्या का भाव न समझ सका,' श्यामला ने कहा : 'सो मैं कैसे समझ लूँगी। तुम्हीं बताओ। हम क्यों नहीं मरते अपनी इच्छा से! यह कोई प्रश्न हुआ।—पर मैंने कहा : संतान को तो माँ पालती है, पुरुष नहीं। पुरुष उन साधनों को जुटाता है जो माँ और संतान की जीविका बनते हैं।—तो पूछती हूँ : स्त्री क्यों पुरुष पर निर्भर होती है? माँ बनती है न, इसीलिये।—माँ क्यों बनती है!—हे ब्रह्मा! इसका उत्तर है स्त्री देह का धर्म!—तो देह धर्म के लिये किसी पर आश्रित हो जाना क्या अपने आत्मसम्मान की रक्षा है?—अब बस! बहुत हो गया। ब्याह कर दो ऐसी बिटिया का। आप समझा लेगा इसको इसका पति। देवी! सुन लो अच्छी तरह! सुन लो। महाराज से कह दो। बेटी कहती है कि ब्याह नहीं करेगी।'

ब्याह के विरुद्ध है?

और क्या! स्नान करके तो नयी-नयी सूझ रही हैं। अब क्या करूँ मैं! अच्छी बुद्धि दी है ब्रह्मा ने, जाने क्या होगा।

मैं सोचने लगी : तो क्या यह जगत अब स्त्री और पुरुष दो भागों में विभाजित होगा?

मैं हँस पड़ी। सोचा : इसे पुरुष की कल्पना ठीक नहीं है। परंतु इतने सहिष्णु पिता के रहते हुए भी इसकी पुरुष के प्रति ऐसी धारणा क्यों है? और हठात् मैं उलझ गई। ऐसा देवोपम पति पाकर भी क्या मैंने उनको दुःख नहीं दिया है? मेरी बातें क्या हैं? पुरुष पर एक तरह के अहसान की बात ही तो मैंने उनसे की है! कोई और पुरुष होता तो क्या वह इस सबको सह जाता? पर मैं नहीं जानती, मैंने उनसे ऐसी बातें क्यों कीं! क्या मैं नादान थी, या वह सब मेरा थोथा अहंकार था? मैंने यही तो कहा है कि मैं वही करूँगी जो तुम्हें सुख दे, जो तुम्हें अच्छा लगे; क्योंकि तुम्हारी पत्नी हूँ, और पत्नी का यही तो कर्तव्य है! परंतु वे यह सुनकर कभी तृप्त नहीं हुए। सूने से मुझे देखते ही तो रह जाते थे।

महाराज से जब मैंने वसु के यह विचार कहे, वे एक बार पलक उठाकर छत की तरफ देखने लगे। वे किसी सोच में डूब गये, परंतु उस सोच में उद्विग्नता नहीं दिखाई देती थी। ऐसा लगता था जैसे जिस जल में थे, उसमें केवल थोड़े और गहरे

उतर गये थे। इतना भर ही तो था, और तो कोई हलचल मुझे नहीं दिखी।

मैं समझी थी वे घबरायेंगे। कहेंगे : 'धारिणी! यह क्या हुआ? लड़की को समझा।'

पर ऐसा कुछ नहीं हुआ।

मैंने कहा : 'स्वामी!'

उन्होंने मुझे देखा और मुस्कराये। तब मैंने कहा : 'आप तो सोच में पड़ गये। ऐसी बात ही क्या है? लड़की है, नासमझ है।'

'तुम ठीक कहती हो धारिणी! परंतु नयी आयु का विचारक बहुत ईमानदार होता है! बहुत ईमानदार! अपने स्वार्थ से वह समझौता करना नहीं जानता। यही सोचती हो न?'

'क्या सोचती हूँ स्वामी! क्या कहूँ। नहीं जानती।'

'क्यों?'

'मैं कुछ नहीं समझती।'

'इसीसे तो वसु प्रश्न करती है। उसको उत्तर तो देना ही होगा।'

'क्या उत्तर देंगे उसे?'

'सोचता हूँ प्रिये कि वसु जो प्रेम की नयी विवेचना करती है, वह क्या वही नहीं है जो शताब्दियों से स्त्री-पुरुष सोचते आ रहे हैं और उसका उत्तर नहीं दे पा रहे हैं। है न यही बात?'

मैं चुप रही। उन्होंने स्वयं कहा : 'एक बहुत बड़ा घेरा है देवी!'

'घेरा?'

'हाँ, घेरा! और हम उसमें ही अपनी आँखें खोलते हैं और उसीमें आँखें बंद कर लेते हैं। आँख खोलने का नाम जन्म है, बंद करने का नाम मृत्यु है। मनुष्य की देह का इतना ही धर्म है। आत्मा का खेल फिर भी चलता रहता है, ठीक कहती है वसु! मेरी बिटिया वाचक्नवी गार्गी जैसी विदुषी निकलेगी! तुम देख लेना। उसने असली सवाल उठाया है। सुलभा ने पूछा था न जनक से! ममत्व! इसका स्थान! स्त्री और पुरुष में भेद ही क्या है? आत्मा तो एक है! भेद है शरीर का। शरीर के ममत्व में माया है। है न? वसु ने वही पूछा है। साधु! मेरी लड़की!

कितनी चतुर है। सचमुच उसकी बातें सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है।'

हे चूलकोका यक्षी ! यह क्या हुआ, कह गई मन ही मन !

'पर वसु विवाह नहीं करना चाहती।'

'अच्छा ! संयम चाहती है ?'

'संयम कभी हुआ है स्वामी !'

'क्यों नहीं होगा ! सब जगह यही सुनता रहता हूँ कि पुरुष ही स्त्री को देखकर विचलित होता है। स्त्री उसे बुलाती है ! पर जब स्त्री ही नहीं बुलायेगी, तो फिर डर ही क्या है ?'

स्वामी ने मेरी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखकर कहा : 'जानती हो? प्रजनन क्या है ? कर्मजाल का विस्तार। और कुछ नहीं। है न ?'

मैं स्तब्ध रह गई। यह बाप और बेटी क्या कह रहे हैं ? कौन-सी दुनिया की बातें हैं यह !

मैंने कहा : 'और प्रजनन न होगा तो लोक कैसे चलेगा ?'

'नहीं चलेगा, पर चले भी क्यों ? तुम पूछोगी मुझसे कि लोक में एक जो पवित्रता है मातृत्व में, वह कहाँ रही ? पर यह पवित्रता क्या है ? कुछ नहीं। मन का विभ्रम ! आत्मा का पूर्णत्व, कर्मविहीन होकर निष्कलंक, अकल्मष, पवित्र होना, जन्म और मरण के चक्र से बाहर निकल जाना है। उसकी पवित्रता की साधना ही लोक का रुक जाना है।'

'स्वामी ! यह क्या आत्महत्या नहीं ?'

'आत्महत्या ! क्यों ? पुरुष जब तक बीज है तब तक हर तरह से स्त्री क्षेत्र ही तो है ! पर जब स्त्री गर्भ धारण नहीं करती, तब वह पुरुष पर आश्रित क्यों होगी ! तब वह घर छोड़कर क्यों आयेगी ? संतान ! संतान न होगी तो पुरुष और स्त्री का झूठा ममत्व कहाँ होगा ? पशुत्व को मनुष्य प्रेम का झूठा नाम क्यों देगा ? मैं तुमसे पूछता हूँ कि वसु ने क्या बुरा कहा है ? स्त्री क्या है ? कौन है भोग्य, कौन है भोक्ता ? स्त्री-पुरुष आज द्वंद्व में फँसे हैं। लोक चले, पुत्र हो। पुराने लोग ऐसा कहते थे, परलोक बनाने को। पर परलोक की वह बात मेरी समझ में नहीं बैठती। पितरों की पूजा क्यों हो ? वे अपने कर्मों में फँसे हुए हैं। हमारे संबंध हमारी

वासनाओं की विवशता के प्रतीक हैं। हम एक दूसरे को भोगते हैं, आनंद प्राप्त करने के लिये। परंतु आनंद भोग में है ही कहाँ? वासना किसकी है ? पुरुष की भी। स्त्री की भी। स्त्री प्रेम करती है, प्रेम के लिये नहीं, पेट के लिये, और पुरुष ! पुरुष प्रेम करता है किसलिये ? आनंद के लिये ! आनंद ! किसका आनंद ! पारस्परिक पशुता के आचार में आनंद का वीभत्स द्वन्द्व है। मृत्यु के अंक में हम प्रेम करते हैं? झूठ है यह, बिल्कुल झूठ है। यह जो आज हज़ारों लोग घर छोड़कर भटक रहे हैं ? वे क्यों परिवार में बँधे नहीं रहते ?'

यह विचार मुझे जड़ तक हिला गया। वे कहते रहे : 'धारिणी ! जो तुम नहीं कर सकीं, जो मैं—दधिवाहन—नहीं कर सका, वह यदि वसुमति कर दिखाये ; लोक को एक मार्ग दिखा सके, तो कितनी बड़ी बात होगी। यह मिट्टी की देह में रहने वाला यात्री आत्मा है न ? है तो पराया, पर वासना और संस्कार ग्रहण करता है इस मिट्टी की, जिसका मूलाधार केवल बर्बर पशुत्व है।'

मैंने श्याभला को बुलाकर कहा : 'श्याभले ! यह क्या हो रहा है ?'

'क्यों देवी !'

'अभी तक तो बेटी थी, अब पिता भी उसकी ओर हैं।'

'पर देवी ! राज्य का क्या होगा ?'

'क्या होगा ?'

'उत्तराधिकारी भी नहीं है। मैंने सुना है राजवंश में इस बात पर खुसपुस भी होने लगी है।'

श्याभला को चैन कहाँ ! पुत्र के बारे में जाकर महाराज से भी पूछा। उन्होंने कहा : 'जा तू देवी को मेरे पास भेज दे। उन्हें समझा दूँगा।'

महाराज से मिली तो बोले : 'देवी ! पुत्र और पुत्री में भेद कहाँ है? मैंने निश्चय कर लिया है।'

'क्या देव !'

'अपनी वसु है न ? उसे ही उत्तराधिकार दिलाने की चेष्टा करूँगा।'

'अभी तक ऐसा कभी हुआ ?'

'नहीं हुआ।'

'फिर अब कैसे हो जायगा ? मैंने तो कभी नहीं सुना कि स्त्री ने सिंहासन पर पाँव अकेले रखा हो !'

'कहीं हमारे विचार में दोष अवश्य है। स्त्री यदि पुरुष के साथ बैठ सकती है, तो वह अकेले क्यों नहीं बैठ सकती ?'

मैं जो पहले स्त्री की बात करती थी, उल्टी बातें करने लगी। क्या स्वामी मुझसे मन ही मन चिढ़े हुए थे ? क्या वे इस तरह मेरा क्षुद्रत्व प्रगट करना चाहते थे ? यह तो परिवार का अंत था। वसुमति विवाह न करके संयम धारण करे और उत्तराधिकार प्राप्त करे, तो इसका अर्थ हुआ कि स्वामी भी संयम लेकर उसे शिक्षा दें। तब मैं ? मैं भी संयम ले लूं। वैराग्य छा जाये। बाप-बेटी दोनों ही तो परिवार की जड़ें काट रहे हैं !

'किंतु परिषद् क्या इसे स्वीकार करेगी स्वामी ?' मैंने मुस्कराकर पूछा।

'परिषद !' स्वामी ने कहा : 'तुम्हारा संदेह उचित है देवी! शायद न माने। निश्चय ही वहाँ विरोध होगा। हो भी तो क्या आश्चर्य है। बात नयी भी तो है।' फिर उन्होंने सिर हिलाकर विश्वास से कहा : 'पर मैं सामने रखूंगा अपनी बात ! तुम चिंता न करो। स्त्री का पक्ष मैं जितना रख सकूंगा उतना रखूंगा। तुम जो चाहती हो, एक बार वही कराने का यत्न करूँगा। तुम कहती थी न कि मेरे सुख में तुम्हारा सुख है, तो एक बार मैं भी देखूं कि तुम्हारे सुख में ही मेरा सुख हो। कन्या को जो तुमने शिक्षा दी है, मैं क्या उसका विरोध करता हूँ !'

यह मैं क्या सुन रही थी ! यह मैंने क्या सुना ? यह मेरे पति ने मुझसे क्या कहा ? स्त्री का पूर्ण समर्थन न मिलने पर पुरुष का आहत आत्मसम्मान—उसका अहंकार कहाँ तक जा सकता है, यह मैंने तभी समझा। पर मैं लौटती कैसे ?

सचमुच परिषद के सदस्य बैठे और महाराज ने कह ही दिया : 'क्यों पुत्र ही क्यों ? पुत्री क्यों नहीं ? उसीको क्यों राज्यसिंहासन दिया जाये ?'

वृद्ध जीमूतवाहन राजकुल के व्यक्ति थे। उनका स्थान कुमारपादीय था। उनकी वीरता की गाथा आजकल प्रचलित थी। उनके यौवन के समय में मेरे स्वामी के पितामह महाराज थे। स्वर्गीय श्वसुर के समय में जीमूतवाहन ने वत्स जैसे विशाल राज्य की वाहिनी को खड-खंड कर दिया था। उसी झगड़े को शांत

करने के लिए अड़ोस-पड़ोस के क्षत्रियों ने भी हाथ बँटाया था। तभी मगध के उत्तरी सीमांत पर बसे छोटे-से राज्य के राजा मेरे पिता धारण ने मगध के दोनों ओर के इन राजाओं को संतुष्ट करने को अपनी दोनों बेटियाँ ब्याह दी थीं——मैं आई चंपा; मृगावती गई कोसांबी। परंतु घाव क्या भर गया? मेरे भगिनीपति शतानीक परंतप ने कहा कुछ नहीं। परंतु राज्य की तृष्णा? उसे कौन जाने!

वृद्ध जीमूतवाहन हँस पड़े। कहा: 'देव! युद्ध काल में स्त्री जाकर शत्रु से युद्ध कर लेगी?'

महाराज दधिवाहन ने देखा और देखा, और तब कहा: 'जायेगी! यदि उसे युद्ध करने की सैनिक शिक्षा प्राप्त हो जायेगी!'

वह उत्तर बड़ा पैना साबित हुआ, क्योंकि लोग तो तभी समझे कि महाराज इस विषय में गंभीरता से बातें कर रहे थे।

'स्त्री समान नहीं हो सकती आर्य! पुरुष से बलात्कार नहीं किया जा सकता, स्त्री से किया जा सकता है। स्त्री अकर्मक है, पुरुष सकर्मक।' वृद्ध जीमूतवाहन ने अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरकर कहा।

'वह तभी तक है आर्य!' महाराज ने कहा: 'जब तक हम बर्बरता की कल्पना करते हैं! जिस प्रकार राज्य बलवान और निर्बल की समान रूप से रक्षा करता है, उसी प्रकार वह स्त्री के शरीर की भी रक्षा कर सकता है, क्योंकि सभ्यता यही चाहती है!'

'किंतु हम सभ्य कहाँ हुए हैं?' जीमूतवाहन ने कहा।

'आर्य! सभ्यता क्या है?'

'महाराज! सभ्यता यही है जिसे हम व्यवहार में लाते हैं——हमारा आचार। पीढ़ियों से यही चलता आया है।'

'यह तो परिवर्तनशील है आर्य! आपस्तंब के धर्म के रूप बदल गये। नित्य नये धर्म बन रहे हैं। हमारा केन्द्र क्या है? वह जो शाश्वत है, या वह जो परिवर्तनशील है? यह सब तो बाह्य परिवर्तनमात्र है न?'

'वह ठीक है देव! अपराध क्षमा हो। सत्य को अविनय में नहीं गिना जाये। पशुत्व हममें कहाँ नहीं है?'

'पशुत्व !' महाराज ने कहा : 'सर्वत्र है।'

'देव ! जब आपने स्वीकार ही कर लिया तो फिर यह समानता की बात ही कहाँ उठी ?'

'हमने पशुत्व को जीता है न आर्य !'

'केवल ऋषि, मुनि और श्रमणों ने देव ! लोक ने नहीं। मर्यादा लोक की होती है। हम क्या पशु की ही भाँति आहार, निद्रा और मैथुन में प्रवृत्त नहीं होते ?'

'ठीक है, परंतु हम क्या पशु की भाँति खाते हैं ? क्या हमारी वासना पशु जैसी ही है आर्य ! परिषद् के सभ्य विचार करें। गंभीर प्रश्न है। मानव जाति पशु तो नहीं है ? पशु का परिवार कहाँ होता है ? पशु की वासना का टिकाव कहाँ है ? पशु में लज्जा कहाँ होती है ? पशु में धर्म कहाँ है ? पशु में विचार और दर्शन कहाँ है ?'

महाराज ने गर्व से चारों ओर देखा, परंतु भले ही परिषद् में मौन छाया रहा हो, सदस्य संतुष्ट-से नहीं दीख रहे थे। जीमूतवाहन की ओर वे औत्सुक्य से देख रहे थे कि यह बोले और वृद्ध ने कहा : 'देव ! मर्यादा के अंदर रहकर कहता हूँ कि अपने एकांत संबंध में नारी पौरुष का पराक्रम चाहती है। पौरुष की सभ्यता नहीं। शताब्दियों से नारी ने उसी प्रकृति के कारण पुरुष का आधिपत्य स्वयमेव स्वीकार किया है। यदि मैं भूल कर रहा हूँ तो मेरी आयु का पुराना अनुभव भूल कर रहा है। पुरुषानुक्रम से जो होता आया है वही मैं कहता हूँ देव ! आपके पितामह के समय से आँखें खोले बैठा हूँ मैं। जिस प्रकार युद्ध की बर्बरता और हिंसा को पराक्रम कहा जाता है, उसी प्रकार कामबल के पशुत्व को पौरुष का नाम दिया गया है ! उसे आप सभ्य शब्दावली में कुछ भी कह लें। स्वयं महाराज हैं। दैव ने आपको इस स्थान पर बिठाया है, परंतु उसकी मर्यादा तो देव को रखनी ही चाहिये।'

महाराज की भौंएँ खिच गईं। उन्होंने कुछ खिचकर कहा : 'आर्य ! तो फिर सुलझन है कहाँ ? प्राणी का सुख कहाँ है ?'

वृद्ध ने दाढ़ी पर हाथ फिराकर कहा : 'महाराज ! क्षमा करें। मेरा जो पुत्र

महाराज के पिता स्वर्गीय महाराज की रक्षा करते हुए अपने स्वामी की सेवा करने को उनके पहले ही स्वर्ग चला गया, वह यदि आज होता तो देव से आयु में अधिक होता। किसीने कहा है कि ब्राह्मणों में बड़ा वही है जो विद्वान है, क्षत्रियों में वही जो बलशाली और पराक्रमी है, वैश्यों में वह है जो धनी है और आयु का बड़प्पन तो शूद्रों में ही महत्व रखता है। हम लोग क्षत्रिय हैं, अतः मुझे आयु के महत्व को विशेषता नहीं देनी चाहिये। किंतु आयु में भी महत्व तो होता ही है। वह है सुख-दुःख का अनुभव। इसी नाते सेवा में निवेदन करता हूँ कि प्राणी के दो सुख हैं। एक लोक का सुख है, दूसरा परलोक का। परलोक के लिये लोक को नहीं छोड़ा जा सकता, क्योंकि लोक से ही परलोक बनता है, बिगड़ता है। महाराज स्वयं देखें। काम किसमें अधिक है ? देव ! इस युग में कोई पहली बार तो पुरुष नहीं हुआ, न पहली बार हुई है स्त्री। यह स्त्री-पुरुष का संबंध तो न जाने कब से चला आ रहा है, और न जाने कबतक इसी तरह चलता चला जायेगा। आप मेरा इस प्रकार यह प्रश्न सुनकर विस्मय कर सकते हैं, किंतु यह मूलभूत प्रश्न है। इसका उत्तर यही है कि क्षणिक वासनामात्र काम नहीं है। आर्यों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नाम से जो मनुष्य की चार प्राप्तियाँ बताई हैं, वे लोक-परलोक का सामंजस्य करके ही प्रतिपादित की गई हैं और एक-दो व्यक्ति या युग की नहीं, यह अनेक व्यक्ति और युगों के अनुभवों की गाथा है। तभी हम इन परिणामों पर पहुँचे हैं। सुलझन तो मन का समझौता है। आज तक पुरुष ही छटपटाया है मुक्त होने को। स्त्री के कितने उदाहरण हैं ? कितनी स्त्रियों ने घर छोड़ा है ? संतान की ममता के कारण स्त्री घर से ऐसी बँधी होती है कि पुरुष वैसा कभी नहीं होता। ब्रह्मा ने ही स्त्री और पुरुष का यह भेद बनाया है देव ! मांसपिण्ड को मनुष्य बनाना कोई खेल नहीं है, तभी वेद में माता की ही महिमा गाई गई है।'

महाराज चुपचाप बैठे रहे। परिषद् में निस्तब्धता छाई रही। वृद्ध जीमूतवाहन ने फिर कहा : 'तभी पुरुष जीवन के विविध क्षेत्रों में रहा है। देव ! प्राचीन ग्रंथ कहते हैं कि पहले स्त्री गायों की तरह स्वतंत्र थी। बाद में उसने पातिव्रत को स्वयं अपनाया। पुरुष आज तक परिवार में अपने को पूरी तरह से समेट नहीं पाया है। वह जो है न पुरुष ! स्त्री के साहचर्य से घिर जाता है। अन्यथा वह स्वतंत्र रहता है।

अपनी पत्नी से अत्यन्त स्नेह रखने वाला पुरुष भी यह कहते सुना गया है कि विवाह के पहले वह अधिक स्वतंत्र था। ऐसा क्यों होता है देव! होता है क्योंकि उसपर उत्तरदायित्व आ जाता है। पिता कन्या का विवाह करके कहता है : चलो छुट्टी हुई।—पति और पत्नी का मूल भेद यह है कि विवाह होते ही स्त्री अपने भविष्य के बारे में सोचना छोड़ देती है और पुरुष विवाह के उपरांत ही अपने बारे में, अपने भविष्य के बारे में सोचना प्रारंभ करता है। इसे देखिये और आज्ञा दीजिये। अङ्ग-देश के आप स्वामी हैं। आपका शब्द ही प्रमाण है। महाराज! स्त्री बड़ी चतुर होती है। उसने पुरुष को मूर्ख बनाकर अपने सारे स्वार्थ और सुख-साधन जुटाये हैं। पुरुष उसके लिये दिनभर बाहर रहकर कमाता है। स्त्री कहती है कि मैं घर सँभालती हूँ। घर सँभालती है तो किसलिये? अपने लिये? स्त्री न हो तो पुरुष को घर की आवश्यकता ही क्या! एक बार मैं विंध्याटवी गया। रात हो गई वन में, तो शबरों के गाँव में जा पहुँचा। जंगली शबरों ने मुझे ठहरा लिया। प्रातःकाल देखा कि सारे पुरुष शिकार करने चले गये और घर रह गईं स्त्रियाँ। मैंने भी सोचा था तब, कि क्या है स्त्री का कार्य? घर सँभालना। वे शिकार पर गये हैं। शिकार में हज़ार खतरे हैं। मेहनत है। घर पर क्या है? कुछ नहीं। अपने बच्चों की देख-भाल करना। बच्चे किसके? माँ के। और रहा बनाना भोजन। सो उसे क्या स्त्री नहीं खाती देव! परंतु स्त्री के इस रूप को बुरा कौन कहता है? पुरुष और स्त्री के अलग-अलग धर्म हैं। स्त्री का धर्म है संतानोत्पत्ति और उसका पालन! और इसीलिये पुरुष उसका पालन करता है। वह कोमल होती है। देव! फिर विवाह करें। पुत्र प्राप्त करें, पितरों का ऋण चुकायें। रहा यह कि महारानी बुरा मानेंगी, सो मैं आशा करता हूँ कि राज्य के लिये वे बुरा नहीं मानेंगी। स्वयं उनके ही पिता की सात रानियाँ थीं।'

महाराज ने देखा और तब जीमूतवाहन ने पलकें झुका लीं और धीरे से बात समाप्त की : 'आगे आप स्वयं स्वामी हैं।'

'नहीं', महाराज ने कहा : 'आर्य! हम महाराज हैं अवश्य, परंतु मनुष्य भी हैं। लोक में अधर्म तब आता है, जब राजा अधर्म करता है। एक पुरुष के एक स्त्री हो, एक स्त्री के एक पति। यही उचित है। एक से अधिक पत्नियाँ रखना स्त्री

जाति का अपमान करना है। यदि पुत्र न हो और फिर विवाह किया जाये, तो स्त्री तो केवल संतान के लिये हो गई! और फिर संतान भाग्य से मिलती है। क्या यह निश्चित है कि वह मिल ही जायेगी?'

महाराज की बात मैंने सुनी तो मुझे लगा कि वे बहुत महान थे, जिन्हें मैं अपनी क्षुद्रता में कचोटती रही थी।

'तो क्या देव! अब स्त्रियाँ यह भी कहेंगी कि वे मातृत्व नहीं चाहतीं।' वृद्ध ने व्यंग्य से कहा।

'पितृत्व और मातृत्व दो विभिन्न संज्ञाएँ नहीं आर्य!' महाराज ने कहा: 'पुरुष भी पिता बनना चाहता है। यदि दोनों ओर से वासना न होती तो संभवतः परिवार में पुरुष नहीं रहता। कुछ आराम पुरुष को भी मिलता अवश्य है, अन्यथा वह स्त्री के इतने बड़े स्वार्थ को यों ही नहीं सह लेता।'

परिषद् के सदस्य हँस पड़े।

'तो देव!' श्रेष्ठि मराल ने कहा: 'उत्तराधिकार का प्रश्न अभी रहने दें। सेनाध्यक्ष रुद्रवर्मा आज नहीं हैं। वे भी आ जायेंगे। श्रेष्ठि नंदक भी अनुपस्थित हैं। वे भी परसों तक आ जायेंगे। तबतक परिषद् के सभ्य और विचार कर लेंगे और तब जैसा कुछ निर्णय होगा, वही कर लिया जायेगा। अपनी छोटी-मोटी राय में स्त्री को सिंहासन पर बिठाने में हानि तो नहीं, परंतु यदि वह विवाह करेगी तो राज्य का स्वामी यदि उसका पति हो गया तो!! और बिना राज्य के पति बनेगा कौन? संयम एक बार लेकर निबाहना भी सहज नहीं प्रभु! सब देख लें। प्रयोग के लिये ही इतना बड़ा दाँव खेलना भी ठीक नहीं है।'

मैं प्रासाद में लौट आई। वसुमति की सखी सेनापति-पुत्री विरजा बैठ गई।

मैंने कहा: 'वत्से!'

'हाँ देवी!'

'तू नहीं बात करती अपनी सखी से!'

'क्यों नहीं करती देवी?'

'तो क्या तू अपने पति से असंतुष्ट है?'

'क्या कहती हैं देवी!'

'ठीक ही तो कहती हूँ ।'

'आपसे किसने कहा ?'

'कहेगा कौन ? संतुष्ट होती तो पति के सुखों का अपनी सखी से वर्णन न करती ?'

विरजा लजा गई ।

'अरी लजाती क्यों है ?'

'हटिये आप भी !'

'क्यों इसमें क्या बात है ऐसी ? सब लड़कियाँ करती हैं। क्यों ? जीवन में नया अनुभव होता है न ?'

वह नहीं बोली । मुस्करा गई । मैं अपने भँवर में डूब रही थी । मुझे तिनके का भी सहारा चाहिये था । इसीलिये कहा : 'अरी पुरुषों में आयु का प्रश्न होता है, स्त्रियों में तो एक ही बात होती है ।'

'वह क्या देवी ?'

'वही बताती हूँ ।' मैंने कहा : 'देख ! कल तक तू कुमारी थी ! तब वसु के साथ थी । अब तू विवाहिता है । हमारे साथ है । क्या नहीं जानती तू ? विवाह के बाद ही स्त्री का स्त्रीत्व पूर्णरूप से प्रारंभ हो जाता है । होता है न ?'

वह सुनती रही । चेहरा लाल हो गया ।

'तू बोलती नहीं ।'

'देवी ! मुझे···मैं···सच···क्या···मैं कैसे कहूँ आखिर···'

'अरी तो क्या मैं तुझसे कुछ पूछती हूँ ? पर एक बात बता । तुझे विवाह करके कुछ सुख मिला या नहीं; बस इतना ही जानना चाहती हूँ ।'

'हाँ देवी ! वहाँ भी समृद्धि है, शांति है । घर में झगड़ा नहीं ।'

'अरी पूछती हूँ पति का सुख ।'

'देवी ! आप माता के समान हैं । आपका मुझे सम्मान नहीं करना चाहिये ?'

'क्यों नहीं ? माँ का सम्मान क्यों नहीं करना चाहिये ! परंतु पुरुष ने तेरे स्त्रीत्व को सुख दिया है न ? उसे जाकर वसुमती को बता । वह मूर्खा है । चाहती है संयम ! संयम क्या सहज है ? नीरस हो जायेगा जीवन ! पुरुष के बिना भी स्त्री

का जीवन कोई जीवन है भला ! जा पुत्री ! समझा उसे । सब बताना । भला !'

'क्यों देवी ! सखी ने क्या कहा ?'

'विवाह नहीं करना चाहती !'

'महाराज क्रुद्ध होंगे तो ?'

'वे तो उसे उभाड़ रहे हैं ।'

'ऐं ? देवी ! आप यह क्या कह रही हैं ?'

'वह अभी बालिका है विरजे ! वह क्या समझेगी । पर कहीं आगे चल कर ! पाप शांत हो, पाप शांत हो ! आज तक स्त्रियों के महान पातिव्रत की कथाएँ तो सुनी हैं, परंतु इस अवस्था में त्याग करने वाली स्त्री के विषय में मैंने तो सुना नहीं । बुढ़ापे में तो स्त्रियाँ वैराग्य धारण करती ह । वह तो उचित भी है ।'

विरजा ने उठकर कहा : 'मैं समझाती हूँ उसे । यह क्या पागलपन उठाया है उसने ? सच ! मुझे उसपर संदेह तो था, पर ऐसी पक्की निकलेगी यह आशा नहीं थी ।'

उधर नगर में स्त्रियाँ कहतीं : 'अब ठीक रहा । राजकन्या वैराग्य ले लेगी !'

'और आया कोई सजीला किसी दिन ?'

'तो वैराग्य की विजय होगी । उत्तराधिकारी प्राप्त होगा ।'

वे हँसतीं और अश्लील बातें करतीं : 'यह भी खेल समझ रखा है ! अभी तो बिटिया के दूध के दाँत भी नहीं गिरे होंगे । यह है किसका प्रपञ्च !'

कोई कहती : 'अरे यह इसी रानी का कुचक्र लगता है कि कहीं सिंहासन पर कोई सौत न आ बैठे । हाँ !'

और स्त्रियाँ ही कहतीं : 'स्त्री का चरित्र कौन जान सकता है ! महाराज सीधे-सादे हैं, तभी कठपुतली बनाकर नचा रही है यह रानी । होता कोई परंतप शतानीक या बिंबसार-सा, तो बता देता ! ऐसा मंत्र किया कि महाराज अब पुत्री को ही सिंहासन पर बिठाने की बात करने लगे हैं !'

लोग हँसते ।

—सुना तुमने ! कहते हैं कि प्राचीनकाल में कोई शिखण्डी था, जो स्त्री से पुरुष हो गया था ।

—आजकल नहीं होते क्या? हमारी राजकन्या आगे चलकर पुरुष हो जायेगी।

—हो गया! अङ्ग राज्य का तो फ़ैसला हो गया।

—अरे क्या राज्य की यह हालत पड़ोसी राजाओं से छिपी रहेगी! देखना! कोई न कोई अवश्य लाभ उठायेगा।

श्याभला मुझे बताती और मैं कहती : 'श्याभला! मेरा तो सिर फटा जाता है।'

वह कहती : 'तो देवी! यों साहस हार बैठोगी तो क्या होगा!'

'तू बता श्याभला! मैं इसमें क्या कर रही हूँ जो दोष मेरे सिर पर मढ़ा जा रहा है? आखिर में सीधे हैं तो महाराज! बुरी हूँ तो मैं। क्यों? मैंने कहा है उनसे कुछ? वे एक छोड़ हजार ब्याह करें! मैंने कब रोका है उन्हें। मेरी कोख से पुत्र नहीं जनम लेता तो मैं क्या करूँ? मेरा तो दुःख था सो था, यह लड़की और मुझे आफत हो गई।'

'मंगला से मैं कहूँगी देवी!'

'क्या कहेगी?'

'मैंने भी कुछ सोचा है।'

'तो मुझे भी तो बता।'

'वह दासी पुत्री है।'

'तो?'

'वह शीघ्र मेरी बात मान जायेगी। उसीके द्वारा मैं राजकन्या को वासना की बातें सुनवाऊँगी। कच्ची आयु है। एक बार रस आया तो फिर रुकेगा थोड़े ही। समझ में नहीं आता। लड़कियाँ इस आयु में अपने आप ही एक सुख-सुपनों की निंदिया में डूब जाती हैं। हमारी बिटिया तो सच अनोखी ही है।'

'जा, कोशिश करके देख!'

'मुझे विश्वास है देवी! ऐसा ही होगा।'

श्याभला चली गई। मुझे कुछ सहारा-सा लगा। शायद सब ठीक हो जाये। पर अभी लड़का कहाँ था वसु के लिये?

मंगला को जब श्यामला ने पास बिठाया और कहा : 'क्यों री ! ब्याह नहीं करेगी ?' तो झेंप गई और बोली : 'हाय मैं ठहरी दासी। देवी करायेंगी तो होगा। मैं क्या जानूँ ? और पता नहीं, होगा भी या नहीं। दासी का क्या मौसी ! स्वामी चाहे तो हो, न चाहे न हो !'

'अरी मैं कराऊँगी तेरा ब्याह !'

'सो कैसे ?'

'मैं देवी से कहूँगी।'

'क्या ? मुझे बता दो मौसी। हाय मैं लाज मरी।'

'देवी ने तो आप ही कहा था।'

मंगला ने आश्चर्य से कहा : 'हाय दैया ! सच !'

वह प्रसन्न हो उठी। और बोली : 'मेरे बच्चे तो मेरे ही रहेंगे न ?'

'नहीं तो क्या री ! बचपन से पलकर भी पूछती है ! यह क्या कोई गणराज्य है ! और हमारे महाराज···

'वे तो देवता हैं मौसी ! उनमें कितनी दया है !'

'और देवी !'

'हाय मौसी ! वे तो मेरी सब कुछ हैं। फिर भला उनके बिना मेरे जीवन में है ही क्या ?'

'जब ब्याह हो जायेगा न ? तब कहेगी यही ! फिर तो पति ही सब कुछ लगेगा न ?' श्यामला ने सिर पर हाथ धरा और कहा : 'अरी ! सबका यही हाल होता है। राजकन्या ही को देख। ब्याह नहीं करना चाहतीं !'

'क्यों ? उनसे किसीने पूछा भी है या वैसे ही विचार अपना लिया है !'

'क्यों री तुझे पुरुष अच्छा लगता है ?'

'लगता तो है। स्त्री बड़ी नीच होती है मौसी। पुरुष स्त्री के लिये सब कुछ करता है, फिर वह अच्छा क्यों न लगे। मेरा पुरुष होगा तो मेरे सुख-दुःख का ध्यान रखेगा। मुझे प्यार करेगा··

'अरी तो मुझे क्यों बताती है मूर्खा ! उसे जाकर बता कि तेरा पुरुष तेरे साथ क्या-क्या करेगा··

'धत्' कहकर मंगला भाग गई। श्यामला हँसी और बोली : 'यही होता आया है, यही होता जायेगा।'

दूसरे दिन मैंने देखा, मंगला प्रासाद के दण्डधर से ही अलिंद के स्तंभ की आड़ में बातें कर रही थी। उसने अपने यौवन की पैनी धार खोल दी थी और दण्डधर उस नंगी तलवार पर नंगे पाँवों चल रहा-सा दीख पड़ता था और तब मुझे लगा कि पीढ़ी दर पीढ़ी होती आई है यह कहानी, इसमें कुछ भी नयापन नहीं है; परंतु प्रत्येक जीव के लिये यौवन में यह नयी है और इसमें एक अथाह गहराई है, एक सशक्त आकर्षण है।

तो, मैंने सोचा, क्या है नारी। मैं, कि श्यामला, कि विरजा, कि मंगला!

नारी! यह भी स्त्री थी! और स्त्री ही तो थी मेरी वसु भी! इन दोनों में क्या भेद था?

इस तरह दिन बीतते गये और मुझे चारों तरफ़ सूना-सूना-सा लगने लगा। घृणा का एक अद्‌भुत सूनापन मुझे घेरने लगा। यह शांति मुझे खाये जाती है, मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता। मेरा पति मेरे इतने पास है, मुझसे स्नेह करता है, पर वह मेरा नहीं है। क्यों वह इस समर्पण से मुझे कचोट रहा है। क्यों नहीं वह मुझे डाँटता। क्यों नहीं पुत्री मुझे सांत्वना देती! यह कैसा परिवार है मेरा! मुझे सब ओर शांति बताई जाती है, पर वह शांति है कहाँ!

श्यामला ने कहा : 'मैं नहीं समझती देवी! मैं तो लोक को जानती हूँ। वहाँ यह प्रश्न ही नहीं उठते। पत्नी झगड़ती है, पति सुनता रहता है, सुनता रहता है। जब नहीं सहा जाता, तब उठकर उसे मारता है, वह फिर पिटती है और गाली देती है, पर फिर मिल जाते हैं दोनों। दोनों की प्रीत अखंड रहती है। काम दुनिया के सब चलते हैं। झगड़े भी, प्रीत भी। संतान का मुख देखकर दोनों जीते हैं। पति-पत्नी ही तो सब कुछ नहीं होते। धनी लोगों की और बात है। पर गरीबों में सब ही सबकी देख-भाल करते हैं। माँ-बाप की देख-रेख कौन करता है? बेटा ही तो!'

तब मैं वसु के पास गई और कहा : 'पुत्री! तेरा विवाह होना है न?'

'नहीं तो', उसने कहा।

'यह तो विद्रोह है, अविनय है।'

'विद्रोह !' वसु ने कहा।

'हाँ ! पुत्री ! माता की बात न मानना और क्या है ?'

'किंतु माँ ! हमारे संबंध तो लौकिक हैं ?'

'लौकिक हैं बेटी ! और हम इसी लोक में तो हैं।'

विरजा भी आ गई। वसु ने कहा : 'किंतु यह संबंध एक कारण से निर्मूल हैं।'

'किससे ?' विरजा ने कहा।

'आत्मा के द्वारा।'

'आत्मा का विकास ही परिवार है।' मैंने कहा : 'जानती है ? अभी तू बालिका है। समझ नहीं सकेगी।'

'नहीं माँ ! ऐसा इसमें क्या कठिन है जो मैं नहीं समझ सकती। तुम परिवार की बात कहती हो न ? तो सुनो ! परिवार जो है न ? सो मुझे वह सब छोटा-छोटा लगता है।'

'छोटा-छोटा !!' मैंने कहा : 'कैसे भला ?'

'परिवार छोटा क्यों हो ? स्त्री उसीमें क्यों बँधे ? वसुधा एक कुटुंब है। उसमें पुरुष के साथ स्त्री अपने को घर में क्यों बाँध ले ? सबसे समान भाव से स्नेह क्यों न रखे ?'

मुझे मन ही मन खीझ-सी हुई। परंतु कह कुछ न सकी मैं। विरजा की ओर देखा।

विरजा ने आगे बढ़कर कुछ कहा। क्या कहा, वह मैं सुन नहीं पाई।

वसु के नेत्रों में आश्चर्य दिखाई दिया।

'समझीं !' विरजा ने फिर फुसफुसाया।

वसु का मुख एक ग्लानि से भर गया।

'सच कहती हो ?' उसने आँखें फाड़कर कहा।

'नहीं तो क्या ?'

'तो क्या सब ! सब यही करते हैं ?'

'सब।'

'उससे लाभ ?'

'सुख !'

'छिः ! यह तो घृणित है।'

'घृणित !' विरजा ने कहा : 'तो सृष्टि ही घृणित है।'

'तो क्या पाप ही के लिये संसार है ?' वसु ने कहा।

'किसने कहा यह पाप है ?'

'मंगला कहती थी। वेश्याओं के बारे में बताया था उसने। तो क्या सभी स्त्रियाँ ?'

मैं लज्जा से मर गई। ऐसी नादान लड़की। मेरे सामने पूछ रही थी।

पाप !! यह मंगला ने क्या कह दिया था इससे ?

पाप !! यही शब्द बड़ा होने लगा।

मुझे अंधेरा-सा लगने लगा।

यह अङ्गराज्य की राजकुमारी है। और इतना भी नहीं जानती !

'कैसा पाप !!' विरजा ने फिर उससे कुछ कान में कहा। वसु निस्तब्ध खड़ी रही। पत्थर जैसी भावहीन।

इसी समय प्रतीहारी ने झुककर सूचना दी : 'देवी ! महाराज आते हैं।' और मैंने देखा। महाराज आये। शांत। चिंतनलीन। गंभीर।

पुकारा : 'पुत्री !'

'कौन ?' वह चौंक उठी।

'मैं हूँ पिता तेरा।' स्वामी ने कहा।

वसु ने प्रणाम किया।

'चिरंजीव रहो बेटी !'

मैं चुप खड़ी रही। विरजा पीछे हट गई।

महाराज ने वसु को देखा तो कहा : 'पुत्री ! मैं व्यक्ति के स्वातन्त्र्य का पक्षपाती हूँ।'

वसु ने आँखें उठाईं।

'तू क्या चाहती है पुत्री ?'

'मैं पाप से बचना चाहती हूँ पिता।' बड़ा ही कातर था वह स्वर।

'पाप !' उसके पिता ने कहा : 'मन में होता है बेटी। कल्मष पाप है। कर्म का वह पक्ष पाप है जो जीव को फँसा लेता है, जिससे उसका विवेक नष्ट होता है, अन्यथा इस लोक में कुछ भी पाप नहीं है।'

'पाप मन में होता है !! तो वह मन से कैसे दूर हो सकता है !'

'जब उसका ज्ञान हो जायेगा पुत्री ! तो वह आपसे आप दूर हो जायेगा। लोक में दो ही बातें हैं जो पाप का आधार हैं।'

'वे क्या हैं पिता !'

'स्वार्थ और मृत्यु का भय !'

'मैं कैसे छोड़ूँ इन्हें पिता !' वसुमति नें काँपते हुए कंठ से कहा : 'मैं तो लड़की हूँ।'

'तू मेरा पुत्र ही है !' स्वामी ने कहा : 'जैसी स्त्री, वैसा पुरुष। राज्य में दण्ड का विधान है। उसीके कारण शारीरिक रूप से बलवान व्यक्ति, निर्बल व्यक्ति की हत्या नहीं कर सकता। शरीर का बल-भेद विशेष महत्व नहीं रखता। बलवान वास्तव में विवेक है, बुद्धि है, क्योंकि उसीके बल पर मनुष्य हाथी को भी बस में कर लेता है। मनुष्ययोनि में सबसे बड़ा तथ्य है विवेक ! और इसीलिये मनुष्य अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है। मनुष्य भटक गया है, क्योंकि वह विवेक की शिक्षा भूल गया है।'

'वह क्या है पिता !'

'संयम !'

'एक शब्द—संयम !'

मैंने बढ़कर कहा : 'किसका संयम देव !'

'मन का !'

'तन का तो नहीं ?'

'तन क्या है देवी ! मन का दास ! मनुष्य जीवन की सार्थकता ही यह है कि मनुष्य इन्द्रियों के पशुत्व को मन से जीत ले। यह सच है कि पिता होने के नाते

मुझे यह सब नहीं कहना चाहिये परंतु मुझे अपने कर्तव्य का भी पालन करना है। पुत्री !'

'पिता !'

'निर्वाह कर सकेगी ?'

'प्रयत्न करूँगी पिता !'

'मुझे प्रतिज्ञा चाहिये।'

मैं चिल्ला उठी : 'स्वामी ! कन्या अबोध है। उसके जीवन को नीरस न बनायें।'

वे धीरे से बोले : 'देवी ! मैं उस दुःख को मिटा रहा हूँ जो तुम्हें सताता था। जीवन का आधार ठीक नहीं है।'

मैं सहम गई। मैंने कहा : 'वह मेरी भूल थी देव ! वह मेरी नादानी थी। उसका प्रायश्चित्त यह तो नहीं है। यह मार्ग पुरुष को श्रेयस्कर हो सकता है, स्त्री को नहीं !'

स्वामी ने कहा : 'यह एक भ्रम है। स्त्री और पुरुष वस्तुतः दो नहीं। दोनों एक ही के दो रूप हैं, तभी दोनों के मिलन से ही नये जीव का जन्म होता है। एक बार स्त्री को भी अपनी मर्यादा पहचानने के लिये उठने दो। हम नयी बात कहते हैं, संभवतः सब इसपर हँसेंगे, परंतु उससे क्या हमें डर जाना चाहिये ?'

और मैंने चारों ओर देखा।

वे चले गये। मैं अपने प्रासाद में आ गई। वसुमति की दृढ़ता अब चंपा में फैल गई; महाराज का यह निर्णय भी कि वे पुत्री को ही उत्तराधिकारिणी बनायेंगे और इसीलिये उसे राजा के योग्य शिक्षा दी जायेगी। मुझे भी यह सुनकर गर्व हुआ। तो क्या मेरा हठ ही एक नये युग का सूत्रपात नहीं बनेगा ? स्त्री शासन करेगी !

वत्स की कोसांबी यमुना तीर पर खड़ी है। परंतप शतानीक मेरी बहन के पति हैं। पराक्रमी हैं। उनका अग्निहोत्र निरंतर प्रज्वलित रहता है। प्राचीन कुरुकुल के पुरोहित, अभी तक उनके यहाँ उसी गौरव से वेदध्वनि करते हैं, जिससे उनके पूर्वजों ने कुरु पूर्वजों के यज्ञ कराये थे। शतानीक वही स्वप्न देखता है। किंतु

उस स्वप्न से भी बड़ा होने वाला था चंपा का स्वप्न ! क्या कहेगा शतानीक सुन-कर ! हँसेगा। हँसेंगे पञ्चाल के क्षत्रिय। मद्र, सिंधु तक यह समाचार फैल जायेगा। फिर भी क्या हुआ !

शाक्यों का कपिलवस्तु खड़ा है। वहाँ, वे गण राजा सुनेंगे। सुना है कि वहाँ कोई राजा शुद्धोधन का पुत्र था सिद्धार्थ !' वह घर छोड़ गया। क्यों ? चक्ररत्न की प्राप्ति के लिये ! क्या पायेगा वह ? हम पायेंगे। लोक में नवीनता फैलेगी। विरोधी पराजित होंगे।

लिच्छवियों की वैशाली खड़ी है। विशाला है वह ! वहाँ गर्वीले क्षत्रिय मदांध घूमते हैं। कहते हैं वहाँ कोई गणराजा सिद्धार्थ था, जिसका पुत्र वर्द्धमान घर छोड़-कर निकल गया। वह जिन तीर्थंकर की भाँति, सुनते हैं, तप कर रहा है ! क्या तप करेगा वह ! क्या प्राप्त कर लेगा वह ! मेरे स्वामी क्या कम दार्शनिक हैं !

मल्लों का पावा और कुसीनारा खड़े हैं। मल्लों के योद्धा दोनों जगह सन्नद्ध रहते हैं। मल्लों में विचारकों का बहुत मान है। क्षत्रिय हैं वे लोग। गण में एकत्र होते हैं। परंतु स्त्रियों को तो वहाँ भी अधिकार नहीं ! स्त्री क्या है ? सर्वत्र वह आधीन है।

स्वामी कहते हैं कि स्त्री आधीन नहीं रहे।

कोसल की श्रावस्ती है, जहाँ बहुत दूर-दूर से वणिक पहुँचते हैं। प्रसेनजित् राज्य करता है। उसके बारे में कहते हैं कि वह बहुत दयालु है। परंतु संसार पुरुष का है। स्त्री का नहीं।

यह मैं क्या सोच रही हूँ। यह मुझे क्या विचार आ रहे हैं ? मैं चौंक उठती हूँ।

मगध के राजगृह की याद आती है मुझे। एक बार गई थी मैं वहाँ। बचपन में। तब और बात थी। अब तो वहाँ बिंबसार राजा है। कहते हैं कि उसे राज्य की लिप्सा है, किंतु वैसे वह दिखाता यही है कि वह राज्य नहीं चाहता ! क्या कहेगा वह सुनकर ?

अवंति की उज्जयिनी शिप्रा के किनारे सुनेगी। महासेन हो गया है वहाँ का चण्डप्रद्योत। खूब सेना जोड़ ली है उसने। सेना ! किसलिये ! हो जायेगा वह अमर ? ले जायेगा वह राज्य अपने साथ ? व्यर्थ नष्ट कर रहा है अपना जीवन !

जीवन ! क्या यह केवल वासना का अम्बार ही है ? या वह है जो हम सोचते हैं ! ! एक उच्चादर्श ! एक ध्येय ! एक लक्ष्य ! केवल अङ्ग की चंपा ही गर्व कर सकती है कि उसने मनुष्य के कल्याण के लिये मार्ग पकड़ा है, और कोई नहीं ।

'वसु !' मैंने उसका सिर छाती से लगाकर कहा : 'बेटी ! जीवन एक कठोर संग्राम है ।'

'नहीं माँ ! ऐसा मत कहो । जीवन संग्राम नहीं । संग्राम में तो जय-पराजय की तृष्णा होती है । उससे तो अहंकार बढ़ता है ।'

मैं सुन्न पड़ गई ।

यह मेरी बेटी थी !

अभी इसकी आयु ही क्या थी ! इतना सब सोच कैसे गई यह !

'किसने कहा तुझसे ऐसा बेटी ?'

'माँ ! पिता कहते थे ।'

'तेरे पिता देवता हैं पुत्री !'

'हाँ माँ ! बहुत-बहुत सिखाते हैं मुझे । तुम क्यों नहीं सिखातीं मुझे ? बहुत-बहुत जानना चाहती हूँ मैं माँ ! बताओ माँ ! परलोक कहाँ है ? व्यक्ति कहाँ है उसमें ? मनुष्य की आत्मा क्यों घूमती है ? पिता सोचा करते हैं और मुझे अपने विचार बताते हैं । फिर कहते हैं कि बेटी ! लोक में मनुष्य अपने स्वार्थ और संकोचों में सत्य को छिपाने का प्रयत्न करता है, इसलिए ही वह अपने घेरे को तोड़ नहीं पाता ।'

'हाँ पुत्री ! यही बात है ।'

'तो माँ ! हम असल में यात्री हैं ?

'हाँ बेटी ! यात्री ही हैं । यहाँ रहने ही कब पाते हैं हम ? आते हैं चले जाते हैं । फिर लौट आते हैं, फिर चले जाते हैं !'

'कैसी भयावनी है मानव की सत्ता !' वसुमति ने मुझे चिपटाकर कहा । मैंने उसे छाती से लगा लिया । उसके शब्दों ने मुझे वास्तव में डरा दिया ।

'सो जा बेटी !

'तुम कहाँ सोओगी माँ ?'

'अपनी शय्या पर !'

'नहीं माँ ! मेरे पास ही सो जाओ।'

'अच्छी बात है।'

हम सो गये। रात को वसु चीख उठी। मैंने जगाकर कहा : 'क्या हुआ बेटी ! क्या डर गई ?'

वसु ने कहा : 'अम्ब ! मैंने स्वप्न देखा है।'

'क्या देखा वत्से !'

'अम्ब ! चंपा पर विपत्ति आ गई है।'

'विपत्ति !' मैं काँप उठी। कहा : 'नहीं बेटी ! अधिक तो भोजन नहीं किया ? ऐसा दुःस्वप्न क्यों हुआ ?'

श्याभला नीचे बिछे कालीन पर लेटी थी। उठकर बैठ गई और कहा : 'देवी ! सुन तो लीजिये। कहीं किसी देवता ने कुछ न कहा हो ?'

मैंने कहा : 'किस तरह की विपत्ति पुत्री ! तूने क्या देखा ?'

वसु ने कहा : 'चंपा डूबी जा रही है और मैं देखती हूँ। तब मैं डरती हूँ और चंपा को उठाती हूँ, जल से बाहर...तभी आँख खुल गई अचानक।'

उस स्वप्न को सुनकर मैं चुप रह गई।

यह कैसा स्वप्न था !

महाराज ने सुना तो कहा : 'अच्छा स्वप्न है। वसु इस चंपा का उद्धार करने को ही पैदा हुई है।'

मैंने सोचा। क्या वसु जीवन में एक नया मोड़ लायेगी ? यह बालिका। अभी तो सब ठीक है, परंतु किसी दिन यदि इसे लग गया कामबाण ! सचमुच ! मुझे बड़ी लज्जा हुई। मैं जो इतनी गर्विणी थी, स्त्री को बँधा हुआ मानती थी, इसका दुःख करती थी, यह नहीं मानना चाहती थी कि स्त्री में भी काम होता है। क्यों था मुझमें यह भाव ! मैं सुख में पली हुई भी दुःख को लाड़ लड़ा रही हूँ ! और बेटी को अपने अहं के दाँव पर ही तो लगा रही हूँ।

'क्या तुम्हें पुरुष से घृणा है ?' विरजा ने पूछा।

वसु ने कहा : 'क्यों ?'

'कहती हो न व्याह नहीं करूँगी ? जानती हो, जीवन रूखा-रूखा हो जायेगा। चिड़चिड़ाने लगोगी। पुरुष से लड़-झगड़कर जो मजा है, वह इस अभावग्रस्त जीवन में कहाँ मिलेगा तुम्हें ? करना है सो करो, पर पहले से उसका हल्ला तो मत करो!'

वसु चुप नहीं रही। कहा : 'अभाव ! किसे कहती हो तुम अभाव ! अभाव का तो अपना अलग-अलग विचार है।'

'हाँ, हाँ,' विरजा ने कहा : 'सखी ! कुछ दिन में अपने आप समझ में आ जायेगा। देख लेंगे !'

'क्या देखेगी तू ?'

'अहं की तड़पन !'

और मैं सोचती हूँ···

विरजा ने यह क्या कहा। वसु नहीं समझ सकती। मैं समझती हूँ।

वसु ने जीवन के उत्थान और पतन कहाँ देखे हैं। परंतु कैसे रोकूँ इसे ! पति का हृदय क्या टूक-टूक न हो जायेगा यह देखकर कि मैं ही उनका विरोध कर रही हूँ। पति की यह धारणाएँ किस तरह बनीं ? मेरे विचारों के कारण ही तो !

कहाँ जा रही है वसु ?

एक ऐसे पथ पर जहाँ फूलों की सुगंधि का कोई मूल्य नहीं होगा। यह स्वतंत्रता, यह संघर्ष, केवल निरानंद हो गया। तब मैं समझी कि स्त्री ने सब कुछ खोकर भी एक वस्तु पाई थी, जीवन में रस, रस अर्थात् संवेदना ! और वसु उसे ही छोड़ रही थी।

क्या हमारे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का मूल आधार यही संवेदना नहीं थी ? उसे छोड़ा जा रहा था यह कहकर कि यह सब सीमित था, कि बाहर और भी विराट सत्य था; वह सत्य जो परिवार के बाहर निकलकर देखा जा सकता था। परिवार छोटा है, स्त्री इसमें बंध जाती है, पुरुष इसमें बंध जाता है, और बाहर निकलने पर सबको समान दृष्टि से देखा जा सकता है।

मैं नहीं सोच पाती कि यह स्वप्न पूरा होगा या नहीं। क्या कभी संसार ऐसा भी हो सकेगा ?

श्यामला ने आँखों के आँसू पोंछकर कहा : 'देवी ! तो खेल खतम हो गया !'

विरजा ने व्यंग्य से देखा और उत्तर दिया : 'अरी खतम नहीं, वह तो अब शुरू हुआ है !'

श्रेष्ठि नंदक ने सुनामा का प्रासाद में आना बंद कर दिया। वह कहता था : 'बाप रे बाप !' माँ-बाप और बेटी, वहाँ तो तीनों ही खराद के चढ़े हैं। मैं ठहरा प्रजा का आदमी, वे तो राजा हैं, चाहे जो करें। मैं बेटी का व्याह नहीं करूँगा तो जाति क्या कहेगी ! कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो जाये, रहेगा तो जाति में। जाति से ऊँचा कौन उठ सकता है !'

और मैं सोचती हूँ कि, परिवार· · ·जाति· · ·व्यक्ति· · ·संबंध· · ·लोक· · ·

कहाँ ! मैं तो कुछ भी नहीं सोच पाती ! !

३.

म, दधिवाहन, अङ्गदेश का राजा, राज्य की सदैव शुभचिंता में तल्लीन रहा हूँ, और सन्नद्ध प्रहरी की तरह मैंने राज्य के कल्याण के लिये चेष्टा की है।

परिवार मेरा छोटा ही है, क्योंकि मैंने अपने को एक व्यक्ति के रूप में समझा है। मैंने राजा और मनुष्य को मिलाकर विशेषाधिकारों को प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया है। इसका कारण रही है मेरी पत्नी, जिसे देखकर मुझे जीवन में सांत्वना मिली है।

मेरी धारिणी का हृदय बहुत कोमल है, वह मुझे बहुत प्यार करती है। उसकी बहन है मृगावती, व्याही है शतानीक को, किंतु वह जब भी धारिणी से मिली है, यही कहा है कि स्त्री को दरिद्र पति मिले, परंतु मिले तो सही। इस वैभव के आडंबर में यह प्रेम है क्या? कुछ नहीं। विलास, प्रसाधन, ईर्ष्या, अहंकार, षडयंत्र और अधिकारों के लिये छीना-झपटी! मृगावती की बातों से धारिणी को सदैव एक सुख भी हुआ है और संदेह भी! संदेह इसका कि वह मुझे बिल्कुल अपना लेना चाहती है, ताकि कहीं ऐसा न हो कि मैं उसे छोड़ दूँ। धारिणी कहती है: 'प्राण! मुझे तो सच विश्वास नहीं होता!'

'किसका!' मैं पूछता हूँ।

'कि मैं इतनी सुखी हूँ!' वह कहती है, और आँखों में डूब जाती है।

और वसु है हमारी पुत्री। मेरी लाडली बिटिया, उसे देखता हूँ तो लगता है कि मेरे जीवन की सारी अपूर्णताएँ उसमें विकास करेंगी। धारिणी कहती है: 'स्वामी! यह तो पुत्री है, एक दिन हमें छोड़कर चली जायेगी। कुछ भी कर लो। विवाह के बाद स्त्री नये परिवेश में जाना चाहती है।'

यह मेरे सामने एक नया चित्र है। मैं कुछ और ही नये ढंग से सब कुछ सोचना चाहता हूँ। चला कौन नहीं जाता! अंततः तो सब ही चले जाते हैं। चले कहाँ जाते हैं। यह तो रास्ता है। इसपर सब चलते रहते हैं। कुछ मार्ग में पहले गिर जाते

हैं, कुछ बाद में ! मैं सोचते-सोचते चौंक उठता हूँ।

मैं दण्डधर से कहता हूँ : 'जाओ ! राजकुमारी वसुमति को बुला लाओ !'

दण्डधर जब लौटता है तो वसु साथ है। वह प्रसन्न है और उसकी प्रसन्नता मुझे अच्छी लगती है। कुछ लोग होते हैं, जिन्हें हम अपनी वेदना के बल पर भी प्रसन्न देखना चाहते हैं।

वह पुरुषवेश में है, क्योंकि अब वह राज्य की उत्तराधिकारिणी है। स्त्रीवेश कोमलता को प्रश्रय देता है, और पुरुषवेश कर्मठता को। बहुत-से काम ऐसे हैं जो पुरुषवेश में ही किये जा सकते हैं।

मैं कहता हूँ : 'दुहिते ! आज मुझे तुमसे एक काम था !'

'आज्ञा दें पिता !'

'पुत्री ! तुमने राज्य में भ्रमण किया है न ?'

'हाँ देव ! परंतु मैं इधर माता की आज्ञा से उनके पास थी। वे बताती थीं। पिता ! माँ स्त्री जीवन के विभिन्न रूपों के विषय में मुझे तरह-तरह की बातें सिखा रही थीं।'

'क्या बताती थीं ?'

'कौमार्य धर्म क्या है ? कैसे उसका निर्वाह हो।'

मैं मुस्कराता हूँ। कहता हूँ : 'स्त्री इस परिधि से बाहर कब निकलेगी। और क्या बताया माँ ने ?'

'पत्नीधर्म !'

तो, मैं सोचता हूँ, परिवार की कल्पना स्त्री के लिये अनिवार्य है और वह कल्पना भी अपनी विशेष सीमाओं में ही रहती है। पत्नीधर्म ! और वैधव्यधर्म भी आया होगा इसके बाद ! किंतु यह परंपरात्मक रूप मुझे अच्छा नहीं लगता। स्त्री-राज्य, लोक और साहित्य के महान क्षेत्रों में क्यों नहीं उतरती ? उसका जीवन क्या केवल इन्हीं सीमाओं में समाप्त हो जाने के लिये है ? इस लड़की को मुझे ऊपर उठाना ही होगा।

मैं कहता हूँ : 'संयम एक ऐसी बात है वसु ! जो स्त्री और पुरुष को बड़े-बड़े कामों की तरफ ले जाती है। तुम्हें सबकी तरह साधारण जीवन व्यतीत नहीं करना

है। समझीं ! तुम्हारे भीतर बहुत बड़ी शक्ति है। तुम्हें सबको एक नयी राह दिखानी है। तुम इसलिये पैदा नहीं हुई हो, कि छोटे-छोटे सुखों में भूली रहो। चलो, नगर चलो मेरे साथ। विवाह है, संतान है, यह सब ऐसे नहीं होने चाहियें, कि मन को घर के भीतर ही बंद कर ल। यह भी जीवन के एक अंग हैं, सब कुछ यही नहीं हैं। इसीको भूल जाने के कारण आज स्त्री का सम्मान इतना घट गया है।'

रथ आ गया है। हम उसपर चल पड़े हैं। मैं उसे नगर की उन्नति के विषय में बहुत-सी बातें बताने लगा हूँ और मुझे यह जानकर मन ही मन प्रसन्नता भी हुई है कि बिटिया बड़ी कुशाग्र बुद्धि है।

नगर के लोग देखते हैं। परस्पर संदेह से एक दूसरे की ओर इंगित करते हैं। लोक का एक नियम है कि धार में बहते रहने को ही धर्म समझा जाता है।

पुरुषों में प्रायः अहंकार अधिक होता है। वे परिस्थिति से संघर्ष करते हैं; और जय में भी, या पराजय में भी, जब भी जो कुछ करते हैं, उस अहं को तुष्ट करके, अर्थात् अपने हर काम के लिये एक तर्क खोज लेते हैं। उस तर्क को वे दर्शन भी कहने से नहीं चूकते। प्रायः अधिकांश व्यक्ति उसी परंपरा में बहते चले जाते हैं। उपपर अधिक विवेचन नहीं करते। परिवार के बीच बालक जो सुनता है उसीसे उसकी संस्कार भूमि बन जाती है और वह उसीको चुपचाप स्वीकार करता रहता है। यौवन के उपरांत जब वृद्धावस्था आ जाती है तो फिर बदलने का प्रश्न ही नहीं उठता। विषमता से चिंतन पैदा होता है। और उससे समाधान खोजने की प्रवृत्ति को विकास मिलता है। इसीसे अनेक मार्ग बन जाते हैं। परंतु मुझे इन मार्गों में अनुगमनीय कोई नहीं दिखता। अभी तक लोक ने अंधविश्वास को ही पकड़ा है। मार्ग कठिन होने से ही क्या त्याज्य है? यही सोचकर मैंने यह नया प्रयोग किया है। यदि यह सफल हो गया तो मनुष्य प्रकाश में आ जायेगा।

विनीत सिरों के बीच से रथ निकल रहा है। मैं उसे बताता हूँ कि नगर और राज्य का क्या संबंध है? नगर की सुरक्षा का वास्तविक अर्थ यह नहीं कि राजा के पास विशाल सेना हो, वरन् यह कि अधिक से अधिक मनुष्य सुखी रहें। यही मैंने प्रयत्न किया है।

वसु मेरी बातें सुनती है और तब कहती है: 'परंतु पिता! आपने अपने वैभव

को त्यागकर भी क्या सचमुच लोक का दारिद्र्य हटा दिया है? क्या अब भी मनुष्य मनुष्य पर धन के माध्यम से शासन नहीं करता?'

सचमुच जैसा पुत्र वैसी पुत्री। मैं कहता हूँ: 'कन्ये! मैंने जो किया है, यदि सभी वैसा ही करते तो अवश्य दारिद्र्य नहीं रहता। किंतु उसके लिये सबमें धैर्य कहाँ है! मनुष्य बहुत मूर्ख होता है। अपने संस्कारों के सत्य को वह बहुत बड़ा सत्य समझता है। चैत्य होकर हम इधर जा रहे हैं। देखती हो न? परंतु हम चैत्य पर रुके नहीं। साधारणतया वहाँ जाकर सब रुककर प्रणाम करते हैं। इससे ही हमारे इस काम को देखनेवाले असंतुष्ट भी हुए होंगे। इतना परिवर्तन करना सहज है कि हम वहाँ न जायें, परंतु यदि चैत्य में दूसरों का दर्शन बंद कर दिया जाये तो क्या होगा! विद्रोह!'

जब हम प्रासाद लौटते हैं साँझ हो गई है। मैं अपनी बात स्पष्ट करता हूँ। कहता हूँ: 'पुत्री! लोक को बदलनेवाले को पहले अपने उदाहरण को सामने प्रस्तुत करना होगा, इस कार्य के लिये संयम की आवश्यकता है; छोटे सुख की ओर न जाकर बड़े सुख की ओर जाना होगा।'

इसी समय प्रतीहारी प्रणाम करता करती है, द्वार पर आकर। मैं उसकी ओर देखता हूँ, प्रतीहारी कहती है: 'देव! द्वार पर सेनाध्यक्ष रुद्रवर्मा उपस्थित हैं। किसी आवश्यक कार्य से वे इसी समय देवदर्शनों की प्रार्थना करते हैं।'

कौन! सेनाध्यक्ष! इस समय! आखिर क्यों आया है वह?

मैं कहता हूँ: 'उपस्थित करो।'

प्रतीहारी चली गई है, वसु कहती है: 'पिता! सेनापति तो प्रातः आते हैं न?'

रुद्रवर्मा प्रणाम करता है।

मैं उत्तर देकर कहता हूँ: 'स्वागत है रुद्रवर्मा! आज इस समय?'

वसुमति को देखकर वह मुस्करा उठता है।

वह कहता है: 'महाराज राज्यकार्य में निरंतर व्यस्त हैं, जानते हुए भी उपस्थित हुआ हूँ।'

व्यंग्य की सीमा होती है। तिक्त स्वर में मैं पूछता हूँ: 'सेनापति! राज्यकार्य केवल कूटनीति और षडयंत्र तक ही सीमित नहीं है। राज्य किसलिये बना? लोक

के कल्याण के लिये और इसीलिये राजा बना। गण बने जब राजा निरंकुश हुआ, और जब गण निरंकुश हुए तब फिर राजा बना।'

'चक्र है एक', सेनापति कहता है : 'यह मैं जानता हूँ। लेकिन लोक में, देव ! समाचार ठीक नहीं है और हमें इस लोक की अवस्था को देखते हुए ही सब काम करना है। गंगा भी पत्थरों पर गेहूँ नहीं उगा सकती। और यही समस्या मुझे भी खाये जा रही है महाराज ! सीमा पर वत्सराज्य की सेना घूम रही है और ऐसे भी समाचार आये हैं कि उसने अङ्ग राज्य के ग्रामीणों को मारा-पीटा है। लूटा है।'

मैं सोचने लगता हूँ : वत्सराज्य ! मगध के उत्तरी वन को पार करके यहाँ आई है उसकी सेना ?

'और चर क्या कहते हैं ?' मैं पूछता हूँ।

'देव ! सैनिक लूटकर भाग जाते हैं।'

वसु कहती है : 'तो लिख दीजिये महाराज शतानीक को कि उनके सैनिक आकर हमारे राज्य की शांति को नष्ट कर रहे हैं। मौसा हैं वे मेरे। अवश्य अपने सैनिकों को अनुशासनहीनता के लिये दण्ड देंगे। जैसी हमारी प्रजा, वैसे उनकी प्रजा।'

रुद्रवर्मा ठठाकर हँसता है। वह कहता है : 'राजकुमारी ! आपकी सलाह सचमुच बहुत कीमती है। राज्य और परिवार, मैं तो समझता हूँ, दो अलग-अलग चीजें हैं, और आपने इन दोनों को मिला दिया है। इसीलिये इतना उलझाव पैदा हुआ है। राजनीति की दृष्टि तो इस प्रकार नहीं चल सकती न ?'

'यही इस लोक की व्यवस्था में भूल हो रही है।' उसको चौंकने को छोड़कर तब मैं कहता हूँ : 'सेनापति ! यह हास्यास्पद भले ही लगे परंतु बात बहुत बड़ी है। राज्य मूलतः बड़े-बड़े परिवार ही हैं। जिस प्रकार परिवार एक नगर में मिलकर रहते हैं, वैसे ही राज्य भी रह सकते हैं; यह क्या नहीं हो सकता ?'

'देव ! यह परिवार नहीं, राज्य है।' सेनाध्यक्ष कुछ खीझकर कहता है : 'और एक परिवार क्या अपने लिये दूसरे परिवार से स्वार्थ की साधना नहीं करता ? क्या सेवक का परिवार नहीं होता ? क्या वह स्वामी के परिवार का-सा सुख पाता है ? यहाँ तो फिर राज्य की बात ठहरी।'

'राज्य हृदयहीनता का नाम है ?' वसु पूछती है : 'परिवारों में अशांति है तो

इसीलिये न ? सेनापति ! स्वार्थ का विराटतमरूप ही तो राज्य बना है। राज्य कोमलता से नहीं चल सकता ? राज्य के लिये कठोरता आवश्यक है ?'

'हाँ राजकुमारी ! यही स्त्री और पुरुष का भेद है । परिवार स्त्री के माध्यम से चलता है, और राज्य पुरुष के माध्यम से । दोनों में मौलिक भेद है ।'

'तो क्या पुरुष स्त्री से जन्म लेकर, उसके सद्‌गुणों का उपयोग नहीं कर सकता ?' वसु उसकी बात काटकर पूछती है : 'जन्म लेते ही प्राणी स्नेह के बल पर पलता है। उस स्नेह को वह चिरस्थायी क्यों नहीं रख सकता !'

'हाँ राजकुमारी, परिवार की सीमा वहीं तक है जहाँ तक स्त्री-पुरुष के व्यक्तिगत संबंध होते हैं । राज्य अनेक स्त्री-पुरुषों की सुरक्षा और शांति के नियमन का नाम है । वह एक अलग ही व्यवस्था है । दोनों को मिलाया कैसे जा सकता है ?'

वसु सिर हिलाती है जैसे उसे यह स्वीकार नहीं । कहती है : 'दो हैं यह, और दोनों एक नहीं होंगी ? ऐसी हैं यह दो सत्ताएँ । परिवार की कोमलता को जीवित रखने को कठोर राज्य अपने ऊपर जिम्मेदारी लेता है । सेनापति ! हमारे जीवन में दो विरोधी आधार हैं । इन दोनों की विषमता से ही यह अनर्थ जन्म लेता है ।'

रुद्रवर्मा ऐसे देखता है जैसे समय व्यर्थ नष्ट हो रहा है । वह एक लड़की से बहस नहीं करना चाहता । मैं देखता हूँ कि पुरुष स्वभाव से ही स्त्री को मूर्ख समझता है और इसीलिये उससे बराबरी के दर्जे पर बात भी नहीं करना चाहता । सेनाध्यक्ष कुछ रुष्ट हो गया है । उसका कठोर शरीर उसके पराक्रम का प्रतीक है, और वसु की कोमलता उसके सामने नितांत नगण्य है । उसने एक बार तीक्ष्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा है जैसे वह मेरा उत्तर चाहता है। मैं बोल नहीं रहा हूँ । अतः वह कहता है : 'देव ! इस विषय में आप जो आज्ञा देंगे, वही मान्य होगी ।'

वसु का मुख अपमान से रंग बदल गया है । किंतु वह चुप हो गई है । रुद्रवर्मा जैसे समझ गया है । वह कहता है : 'राजकन्ये ! आपकी आज्ञा भी शिरोधार्य ! परंतु परिषद् का प्रश्न भी तो है !'

तभी प्रतीहारी कहती है : 'देव ! श्रेष्ठि नंदक द्वार पर उपस्थित हैं !'

'इस समय आर्य नंदक !' मैं चौंककर पूछता हूँ ।

'हाँ देव !'

'उपस्थित करो ।' मैं कहता हूँ और रुद्रवर्मा की ओर देखता हूँ ।

नंदक आया है । चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही हैं । माथे पर पसीने की बूंदें हैं। उसने प्रणाम किया है ।

'इस समय कैसे आये आर्य नंदक ?'

'देव ! घोर विपत्ति आ गई है ।'

मैं कहता हूँ : 'नंदक ! स्वस्थ होकर कहो ।'

'वत्स की सेना ने मेरा सार्थ लूट डाला, कोसल से आ रहा था ।'

'सार्थ ! लूट लिया ! कहाँ !'

'उत्तरी सीमा पर ! मेरी घोर हानि हुई है ।'

'वह हानि हम पूरी करेंगे नंदक !'

'देव ! देव ! !' वह चिल्ला उठता है : 'आप पूरी करेंगे ?'

'हाँ ! क्यों ? इसमें तुम्हें विस्मय क्यों होता है ?'

नंदक नहीं समझ सका है । उसने चंचल दृष्टि से एक बार रुद्रवर्मा की ओर देखा है, जो इस समय कठोर-सा खड़ा है और मुझे देखते हुए बोला है : 'सीमा का उल्लंघन हो गया आर्य !'

'किसकी सीमा ?'

'राज्य की !'

'राज्य की !' मैं कहता हूँ : 'राज्य नहीं । राज्य से भी बड़ी सीमा ! शांति की! हाँ नंदक ! यही पाप है । किस अवस्था में जाकर मनुष्य उस शांति की सीमा का उल्लंघन करता है, जिसका अतिक्रमण मनुष्य से उसका सुख छीन लेता है ? जीवन पर जब मृत्यु शासन करती है, वह कौन-सा क्षण है ? किस क्षण में मनुष्य उस मृत्यु को ऊँचा मान उठता है, जिससे वह सदैव घृणा किया करता है ? कहो पाप और पुण्य की····

'देव ! मैं वैश्य हूँ···' नंदक ने काट दी है मेरी बात, और कहता है : 'अपराध क्षमा हो ! आप महाराज भी हैं, और दार्शनिक भी; किंतु मैं एक साधारण व्यापारी हूँ । इस लोक का ही निवासी । मेरा धन मेरे लिये बहुत बड़ा सुख है । यदि वह नहीं है तो कुछ भी नहीं है देव ! यह राज्य यदि मेरे धन की रक्षा नहीं करता, तो मैं

इस व्यवस्था को ही नहीं चाहता।'

रुद्रवर्मा काटकर कहता है: 'और प्रजा का तुम्हारे सामने कोई मूल्य नहीं है?'

'क्षत्रिय प्रजा की बात करे। मैं स्वयं ही प्रजा हूँ। प्रजा तो मैं हूँ ही, और क्या हूँ? मैं अपनी रक्षा के लिये ही तो कर देता हूँ?' नंदक कहता है: 'लेकिन राजा यदि मेरे कर को लेकर मुझे धर्मोपदेशना देते हैं तो मैं बहुत बड़ा भाग्य लेकर आया हूँ, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं, क्योंकि मेरी हानि तो वे कोष से भरने को तत्पर हैं!' वह व्यंग्य से हँसता है: 'मुझे और किसीसे क्या!'

रुद्रवर्मा क्रोध से द्वार के बाहर चला गया है। नंदक ने मुझे प्रणाम किया है और वह भी उसके पीछे निकल चला है।

जब वे चले जाते हैं, वसु कहती है: 'पिता! ऐसा क्यों हुआ?'

'कैसा बेटी?'

'इनको क्रोध क्यों आया?'

'क्रोध! भय से आता है बेटी! जब व्यक्ति को अपने किसी गहरे स्वार्थ में ठोकर लगती दिखती है, तब और कुछ भी वह सोचना ही नहीं चाहता।'

'तो आर्य! सेनापति को तो स्वार्थ की चपेट नहीं थी!'

'वह भी एक दूसरा प्रश्न है। क्योंकि मनुष्य की लोक के बीच एक परंपरा बन जाती है, वह उसीको अपना धर्म मानकर चलता है।'

'धर्म का अर्थ तो लोक को सुखी करने वाला कर्तव्य है न?'

'गलत धर्म ही जब व्यवसाय बन जाता है तो यही होता है। वे दोनों असली बात को बिना सुलझाये चले गये हैं कि वत्स की सेना का क्या किया जाये। उनके पास इतना भी समय नहीं कि वे वस्तुतथ्य को देख सकें, क्योंकि वे मेरी आज्ञा सुनने के आदी हैं; वे मुझसे तर्क नहीं सुन सकते!' मैं चुप हो गया हूँ। वसु लेट गई है।

'सो जा बेटी, मैं कहता हूँ: 'रात हो गई है।'

'पिता! फिर वत्स की सेना का क्या होगा?' वसु पूछती है।

'सब ठीक हो जायेगा बेटी! विश्वास में जीवन का बहुत बड़ा संबल होता है। अब तू सो जा!'

'कैसे सोऊँ पिता, सेना तो निरीह ग्रामीणों को लूट रही है।'

'क्यों ह वे निरीह ! क्योंकि उनके पास सेना जैसे शस्त्र नहीं है। संगठित होकर वे युद्ध नहीं कर सकते। यही है न ? और भी एक कारण है कि वे अपनी रक्षा मुझ-पर डाल चुके हैं। अन्यथा निरीह ! कोई निरीह नहीं है। सब स्वयं अपने को बचा सकते हैं !'

अंतःपुर की दासी जरिता ने आकर कहा है : 'देवी महारानी ने राजकन्या को बुलाया है। कहा है उनके पास ही सोने चलें।'

मैं कहता हूँ : 'जा बेटी।'

वसु चली गई है। परंतु मैं सोच रहा हूँ : क्यों है यह लोक ऐसा ! ग्रामीण कितने अधिक हैं। फिर भी वे नहीं बचा सकते अपने को ! तो सेना क्या है ? और फिर मैंने अङ्गराज्य में सेना को महत्व नहीं दिया है। क्या अब यह मेरे लिये हानि-कारक होगा ? मैंने प्रजा का पेट काटकर सेना को नहीं पाला, क्या यह मेरी भूल थी ?

सबेरे मेरे पास संवाद आया है कि आर्य जीमूतवाहन उपस्थित हुए हैं। मैं उसी समय शतानीक को एक पत्र भिजवाकर अब बैठा हुआ हूँ।

मैं कहता हूँ : 'आर्य को ले आओ।'

दण्डधर चला गया है और वयोवृद्ध जीमूतवाहन के साथ लौटकर उन्हें छोड़-कर चला गया है। वृद्ध मुझे अभिवादन करते हैं। मैं स्वागत करता हूँ। आये हैं वे। बैठे हैं। कुछ क्षण कुशल-मंगल की बातों में निकल गये ह और अब उन्होंने मुझसे कहा है : 'देव ! आवश्यक कारण से उपस्थित हुआ हूँ।'

'पूछें।' मैं आज्ञा देता हूँ।

'देव, यह सत्य है कि वत्सराज्य की सेना अङ्गराज्य की सीमा का अतिक्रण करना चाहती है ?'

'हाँ, मुझे यह समाचार प्राप्त हो चुका है। सेना ने ग्रामीणों और व्यापारियों की लूट-पाट भी की है।'

'और आप देव ! इसके लिये—क्षमा करें, अपराधी न गिना जाऊँ; यदि उचित समझें तो बतायें—क्या प्रतिकार कर रहे हैं ? वत्स सेना क्यों आई है, यह प्रश्न आप जानते हैं ?'

'मैं अभी शतानीक को पत्र भेज चुका हूँ। जिसमें मैंने उसे याद दिलाया है कि वह हमारी पुरानी संधि को तोड़ रहा है। सीमा पहले निर्धारित हो चुकी है।'

'पत्र ?' आर्य जीमूतवाहन चौंकते हैं: 'किसने भेजा है पत्र शतानीक को ? उत्तर आ गया ? वह होगा कहाँ कोसांबी में ? वह तो वन में छिपा होगा कहीं !'

'हमने आर्य ! पत्रवाहक कोसांबी नहीं वन में गया है।'

'आपने !' जैसे उन्हें विश्वास नहीं हुआ है: 'वन में भेजा है ?'

'हाँ आर्य !' मैं जोर देकर कहता हूँ।

'राज्य की ओर से पहला कदम यही उठाया गया है ?'

'पहले शांति। फिर कुछ और !' मैंने उत्तर दिया है।

जीमूतवाहन सिर पर हाथ रखते हैं और कहते हैं: 'इन भुजाओं ने पीढ़ी दर पीढ़ी अङ्गराज्य के अधिपतियों की सेवा की है। कहते हैं कि मेरे पूर्वजों ने अङ्गराज्य वंश की तब से सेवा की है, जब इसकी नींव पड़ी थी। मैं तब से यहाँ के वीर शासकों की गौरवगाथाएँ सुनता आ रहा हूँ, किंतु देव ! अब बुढ़ापे में मैं यह क्या सुन रहा हूँ ? आपने सविनय पत्र भेजा है !'

'किंतु संधि संधि ही है आर्य ! मैं समझता हूँ इसमें विनय-अविनय का प्रश्न ही नहीं उठता।'

'देव ! संधि तो तब होती जब पहले सीमा पर आपका खड्ग वत्स के उठे खड्ग को पीछे हटा देता। भय ही संधि का मूल कारण है। वैसी ही संधि के कारण अङ्गदेश की शांति आज तक बनी रही है।'

'वह तो युद्ध और हत्या का मार्ग है आर्य !' मैं कहता हूँ: 'मैंने अङ्गराज्य को सुख और समृद्धि दी है !'

जीमूतवाहन सिर उठाता है और कहता है: 'तो जो कुछ दे चुके हैं, उसे इस मार्ग से गँवा देना चाहते हैं !'

द्वार पर कंकण बजने का शब्द सुनाई देता है। हम दोनों उधर सिर उठाकर देखते हैं।

धारिणी खड़ी है। जीमूतवाहन ने 'आर्ये प्रणाम' कहा है। महारानी ने भी उन्हें भट्टारकपादीय वृद्ध जानकर प्रणाम किया है। धारिणी बैठ गई है। वृद्ध

कहते हैं : 'तो शांति बिना खड्ग के कैसे जीवित रह सकती है महाराज ! आप अभी तरुण हैं। पूछिये महारानी से। क्या बिना युद्ध के अङ्गराज्य बच सकता है ?' स्वयं ही उन्होंने कहा है : 'देवी ! कुछ आप नहीं कह सकतीं ? महाराज का मन बदल नहीं सकतीं ?'

धारिणी इसी विषय की सूचना पाकर आई है। कहती है : 'आर्य ! शांति से काम चल जाये तो युद्ध हो ही क्यों ?'

जीमूतवाहन घृणा से खड़े हो गये हैं।

वे कहते हैं : 'आर्ये ! पुरुष वही भाग्यवान है जिसे बुद्धिमती स्त्री मिलती है। मैं अब क्या चिंता करूँ ? मैं तो मृत्यु के द्वार पर आ ही पहुँचा हूँ। बहुत जी लिया हूँ, और अब मेरी साध पूरी हो चुकी है।'

वे अपना खड्ग निकालते हैं और कहते हैं : 'किंतु जो कुछ मैं हूँ, वह यह है। इसीके बल पर अभी तक मैंने जीवन व्यतीत किया है। स्वर्गीय महाराज ने मुझे यह खड्ग मेरी सेवाओं से प्रसन्न होकर दिया था। और कहा था कि जीमूतवाहन! यह कभी मेरे वंशज के विरुद्ध नहीं उठे। इसीलिये आज विवश होकर फिर इसे लौटाये देता हूँ देवी !' यह कहकर उन्होंने खड्ग घुटने के नीचे दबाकर तोड़कर मेरे सामने फेंक दिया है और कहते हैं : 'महाराज ! पुरुषानुक्रम से जिन हाथों को वीरों की सेवा सिखाई गई है, वे क्षत्रियों के हाथ शत्रुओं का विध्वंस करके ही जीवित रहते हैं। अब देव ! मैं साधु सेवा तो क्या करूँगा। राज्य बनते ह मिट जाते हैं, परंतु क्षत्रियों का तो वचन ही रह जाता है।'

धारिणी अवाक् रह गई है। उसने मेरी ओर देखा है।

'आर्य !' मैं कहता हूँ : 'वीरता क्या पशुता में ही है ?'

जीमूतवाहन सिर झुकाकर कहता है : 'महाराज ! आप स्वामी हैं। मुझे जाने की आज्ञा दें, क्योंकि जिस जिह्वा ने आपका नमक चखा है, वह आपके नमक का मूल्य नष्ट नहीं करना चाहती।'

'मैं मृगावती को लिखती हूँ', धारिणी कहती है : 'आर्य ! यह युद्ध नहीं है। अवश्य ही यह सैनिकों का अप्रत्याशित उपद्रव है।'

'देवी ! ऐसा ही हो !' कहकर वृद्ध प्रणाम करते हैं, और वे सिर झुकाये

कहते हैं : 'कोसांबी जब तक दूत पहुँचेगा तब तक तो प्रलय हो चुकेगा। पहले मगध, फिर वत्स !' वे हँसे हैं और चले गये हैं।

उनके चले जाने पर हमारी आँखें टूटी तलवार पर चली गई हैं। दो दिन बीत गये हैं। वन में शतानीक के पास हमारा पत्रवाहक न पहुँचा। हमने मृगावती को पत्र भेजने का निश्चय किया है। कोसांबी से उत्तर आने तक न जाने क्या होगा। तभी कोसल से आते हुए एक सार्थ के व्यापारी से पता चला है कि मृगावती इस समय कोसांबी में नहीं है। वह गंगा स्नान के लिये चली गई है।

गंगा मार्ग से आते हुए हमारे पत्रवाहक को पकड़वा बैठता है स्वयं शतानीक। पत्र पढ़ लिया है उसने। और पत्रवाहक को सामने बिठाकर उसने अमात्यों को सुनाया है। तब शतानीक हँस दिया है और हँसे हैं उसके अमात्य। कहा है शतानीक ने : 'अरे इतना भय ! अङ्गराज्य स्त्रियों के बल पर चलता है क्या ? दधिवाहन कहाँ है ?'

उसकी सेना हँसी है और सेनापति गोधूम ने मदिरा अपने प्याले में उँडेलते हुए कहा है : 'अङ्गराज्य में सुनते हैं मदिरा अधिक अच्छी होती है।'

मैं सुन रहा हूँ। शतानीक वन में पड़ा है !!

प्रासाद में सनसनी छाई हुई है। हर क्षण कोई न कोई मुझसे मिलने आया ही करता है।

ग्रामणी बाहर एकत्र हो रहे हैं।

नगरपाल ने आकर कहा है : 'महाराज ! ग्रामणी दर्शन के लिये खड़े हैं।'

'किसलिये नगरपाल !'

उसने उत्तर नहीं दिया है, तब मैं बाहर गया हूँ। ग्रामणी आतंकित हैं। कहते हैं, राजा कर लेता आया है, हमने उसे अपने क्षेत्रों (खेतों) की उपज का छठा भाग दिया है। किस दिन के लिये ? इसी दिन के लिये तो ! फिर अब वह चुप क्यों है ? अब तक तो सेना को युद्ध में लगा रहना चाहिये था।'

मैं कहता हूँ : 'राज्य रक्षा करेगा। अवश्य करेगा, तुम्हारे ऊपर हानि का भाग नहीं गिरेगा।'

'किंतु महाराज ! यह होगा कैसे ?'

'यह राजा का काम है।'

'देव ? सेना तो कहती है कि हमें लड़ने का अधिकार ही नहीं है। सैनिक यह भी कहते हैं कि हम हैं ही कितने ! वत्स की सेना बहुत बड़ी है।'

'वत्स की सेना बड़ी है तो वत्स के किसान पैदावार का एक बटा छह भाग नहीं देते, राजा उनसे चौथाई ले लेता है। जब कर देने का प्रश्न आता है तब तुम कम से कम देना चाहते हो, जब सेना छोटी होने का प्रश्न होता है तो वह उत्तर-दायित्व राजा पर छोड़ते हो ?'

'देव ! फिर भी विदेशी सेना के आने से क्या नाश नहीं होगा ? युद्ध के बिना वह कैसे रुकेगी ?'

'युद्ध ! युद्ध में नाश नहीं होगा ?युद्ध में गाँव के गाँव जलाकर नष्ट नहीं कर दिये जायेंगे ? तब लूट नहीं होगी ?'

पर अब मेरी बातें कोई नहीं सुनता है।

मेरे साथ केवल वसु है।

लोग कहते हैं : 'राजा डर गया है। राजा घबरा गया है। राजा मूर्ख है। वह अपनी लड़की से सलाह लेता है। लड़की भी कहाँ, अभी तो वह बच्ची ही है।'

धारिणी डाँवाडोल हो गई है।

उसने मुझसे कहा है : 'महाराज ! संवाद तो अच्छे नहीं हैं।'

'शायद शतानीक आक्रमण करना चाहता है।'

'शायद ! अभी तक यह निश्चय नहीं कर सके आप ?'

'जो शांति चाहता है वह युद्ध की भूमिका से क्यों प्रारंभ करे ?'

वह कहती है : 'शांति और युद्ध राज्य की व्यवस्था के दो रूप हैं। वत्स में बेकारी थी। उसे मिटाने को शतानीक ने सेना बनाई और अब सेना के लिये उसे युद्ध चाहिये।'

'धारिणी !' मैं कहता हूँ : 'तो तुम स्वयं समझती हो। राज्य की हिंसा मनुष्य की मूलभूत हिंसा का ही रूप है।'

वसु सुन रही है और कहती है : 'तो दो दर्शन हुए इस जीवन में। और दोनों में परस्पर विरोध है। एक के ऊपर दूसरे को आश्रित किया जाता है।'

धारिणी कुछ संदेह से देखती है और कहती है : 'दो कैसे वसु ?'

'एक स्वार्थ का समझौता, एक परमार्थ की विवशता।'

'कैसे ?'

'माँ ! राज्य समृद्धि और शांति के लिये होता है, किंतु उसको सँभालने वाले को मद हो आता है और तब वह लड़ता है दूसरों से। यह स्वार्थ है।'

मैं उसे प्रशंसा भरे नेत्रों से देखता हूँ।

धारिणी झल्ला उठती है : 'तू नादान है। अभी इन बातों को नहीं समझ सकती। राज्य ! राज्य क्या एक है ? राज्य अनेक हैं। एक को दूसरे से डर रहता है। परिवार भी एक दूसरे से डरते हैं कि नहीं ? ईर्ष्या ही इस सबका कारण है।'

धारिणी वसु की ओर देखती है जैसे—कुछ तेरी समझ में भी आया ? परंतु वह उत्तर नहीं देती। धारिणी चली गई है।

मैं कहता हूँ : 'बेटी ! यह लोक अपनी मान्यताओं में चलता है। व्यवहार का सत्य सबसे बड़ा सत्य माना जाता है।'

वसु का मन शायद भारी हो गया है। उसी समय विरजा आती है, रुद्रवर्मा की पुत्री।

विरजा ने वसु से आकर कहा है : 'चलो राजकुमारी।'

'कहाँ सखी।'

'युद्ध में।'

'युद्ध कहाँ है ?'

'स्त्रियाँ कब डरी हैं राजकुमारी ?'

'पर युद्ध प्रारंभ हो गया ?'

'अब हो ही जायगा। अङ्ग देश से तो स्त्रियों को ही जाना पड़ेगा लड़ने।'

श्याभला आकर पूछती है : 'मंगला यहाँ है ?'

विरजा हँसकर कहती है : 'युद्ध में चली गई क्या ?'

लड़की ठिठोली कर रही है। क्या अब मेरा इतना भी भय नहीं रहा है ! भय क्या है ? मैं सोचता हूँ, मर्यादा ! परंतु मर्यादा शक्ति से ठहरती है। और शक्ति क्या है ! वही युद्ध ! मैं चुप रह जाता हूँ।

पता चलता है कि मंगला ने तो दासी सुलक्षणा से कहा था : 'वत्स के सैनिक

बड़े बर्बर हैं। वे हमें आकर यहाँ अपमानित करेंगे। हम तो दास हैं। हमें क्या है? दासत्व करना है। प्राण क्यों गँवायें हम! यहाँ तो विनाश होकर रहेगा क्योंकि यहाँ राजा का स्थान तो ले लिया है एक लड़की ने। वह क्या वत्स के धनुर्द्धर और वीर खड्गधारियों का अपनी सुरीली आवाज़ से मुकाबिला कर लेगी! मैं यहाँ नहीं रह सकती।'

और सच तो यह हुआ कि अपने प्रेमी दण्डधर के साथ इसी हालत में मंगला भाग गई है।

यह भी खबर आने लगी है कि नागरिक अपने ग्राम-भवनों की ओर भी ध्यान दे रहे हैं। युवतियाँ और लड़कियाँ ग्रामों में छिपाई जा रही हैं, जहाँ वत्स के योद्धा नहीं पहुँच सकेंगे। आतंक छाया हुआ है।

सारे प्रासाद में यही हाल है।

वसु कहती है: 'पिता! तो युद्ध की घोषणा कर दीजिये न?'

मैं हँसकर कहता हूँ: 'उसके लिये घोषणा का क्या होगा बेटी। वह तो क्षण भर में हो जायगा।'

दासी सुलक्षणा आकर कहती है: 'देवी ने राजकुमारी को बुलाया है।'

वसु पूछती है: 'क्यों?'

सुलक्षणा कहती है: 'देवी की आज्ञा है कि ऐसे संकट में कुमारी अंतःपुर में रहे यही उचित है।'

वसु मेरी ओर देखती है।

मैं उसकी आँखों में विवशता भी देखता हूँ और विक्षोभ भी। परंतु यह निर्बलता का चिन्ह है।

मैं कहता हूँ: 'जाओ। माँ से कहो कि जीवन एक बार मिला है, उसके लिये डरने की आवश्यकता नहीं। परंतु माँ चाहे तो तुम वहीं रहना।'

उसके जाने के बाद मैं सोचने लगा हूँ: हिंसा का रूप क्या है?—परंतु अब मैं सोच नहीं पाता बाहर भारी झालर पर डंका पड़ा है।

मैं चौंक उठा हूँ।

दण्डधर ने वेग से घुसकर घुटना धरती पर टेककर कहा है: 'महाराज!

सेनापति रुद्रवर्मा इसी समय आपके दर्शन की आज्ञा चाहते हैं।'

'आने दो !' कहकर मैंने अपना उत्तरीय कंधे पर डाल लिया है।

बिखरे बालों वाला सेनापति घुसा है। उसने खड्ग निकालकर माथे से छुलाया है। मैंने अभिवादन सिर हिलाकर स्वीकार किया है। सेनापति रुद्रवर्मा उत्तेजित है।

'महाराज !' वह कहता है: 'शायद देव ही अभी तक सिंहासन पर आसीन हैं ! मेरी पुत्री विरजा कहती थी कि वहाँ शायद राजकुमारी का राज्य है !'

'रुद्रवर्मा !' मैं हठात् कहता हूँ। वह स्वर कठोर है।

सेनापति का चेहरा खिल गया है। वह हाथ उठाकर कहता है: 'जय ! जय देव ! महाराज की जय ! मैं यही वीर नाद सुनना चाहता था ! क्या हो गया है पराक्रमी दधिवाहन को ! मुझे चाहिये यही शब्द, जो मेरे भीतर हलचल मचानेवाले सिंधु जैसे विक्षुब्ध क्रोध को अपने एक भीम गर्जन से मोड़कर कहे कि उठ ! तूफान से टकरा जा ! और महाराज ! तब मैं आँधियों को ऐसे मोड़ दूँ, जैसे घोड़ों की लगाम हाथ में आ गई हो। किंतु यह जो कहते हैं कि नहीं, महाराज युद्ध नहीं करना चाहते, तो मैं क्या सुनता हूँ यह सब ! अङ्गराज्य क्या भस्म का ढेर है ! शतानीक ! क्या है शतानीक ! कौन कहता है कि अङ्ग की सेना में सैनिक कम हैं ! संख्या बड़ी नहीं होती आर्य ! बल होता है। देव ! अपराध क्षमा हो। मैं क्षत्रिय हूँ' 'मैं युद्ध करूँगा और यदि आप खड़े आज्ञा देते रहें तो मैं अपने रक्त-रंजित खड्ग से कोसांबी को टेढ़ा करके यमुना की धारा से उसको धोऊँगा। आज्ञा दें महाराज !'

'और वह भी क्षत्रिय है, शतानीक भी तो कुरुकुल का क्षत्रिय है रुद्रवर्मा !' मैं मुस्कराकर कहता हूँ: 'कुरुक्षेत्र में क्या हुआ था सुना है ? कहते हैं गणगोत्र नष्ट हो गये थे। भाई ने भाई का वध किया था राज्य के लिये !'

रुद्रवर्मा जैसे तैयार ही है। वह स्वर उठाकर कहता है: 'महाराज ! पर आपने वे चीत्कार नहीं सुने जो आज सीमाप्रांत में गूँज रहे हैं। स्त्रियाँ मुझसे पूछ रही थीं कि सेनापति ! कब निकलेगा म्यान से यह तुम्हारा खड्ग ! —मैंने कहा है कि यदि आज मुझे महाराज आज्ञा न देंगे, तो सेनापति के रूप में नहीं, रुद्रवर्मा के

रूप में कल तुम मुझे अपने बीच में पाओगे ।'

द्वार पर कुछ हलचल होती है । स्वर सुनाई देते हैं ।

'भीतर जाने दो !'

'ठहरिये, सेनापति गये हैं ।'

'तब तो मैं जाकर रहूँगा ।'

नंदक घुस आता है । उसके कपड़ों पर धूल है ।

'श्रेष्ठि नंदक !' रुद्रवर्मा कहता है : 'आ गये ! आओ ! आज रुद्रवर्मा विद्रोही हो रहा है । तुम भी साक्षी बनो । लोक कहेगा कि रुद्रवर्मा ने जो अन्न खाया उसका धर्म पालन नहीं किया, किंतु श्रेष्ठि नंदक ! मैं उसी अन्न से बने रक्त से अपने राजा का भय खोऊँगा ।'

नंदक हतबुद्धि-सा खड़ा रह गया है ।

'राजन् !' वह चिल्लाता है : 'यह क्या हो रहा है ! क्या आज आप यह भी सुनने को तत्पर खड़े हैं ? मैं वैश्य हूँ किंतु यदि आप चाहें तो खड्ग भी उठा सकता हूँ । देव ! आप इतने निराश क्यों हैं !'

'दधिवाहन पर सबको क्रोध है,' मैं कहता हूँ : 'तुम मुझे कायर समझते हो ! नंदक ! रुद्रवर्मा ! कायर की तरह मैं भागूँगा नहीं । मैं तुम्हें वीरता का पाठ पढ़ाना चाहता हूँ । आज तक की वीरता से आगे बढ़ी हुई वीरता । एक नये युग का प्रारंभ करूँगा मैं ! परिषद् को निमंत्रित करो । कहो कि महाराज दधिवाहन परिषद् का आवाहन करते हैं । वत्स की बर्बरता का अङ्गदेश को उत्तर देना होगा । सबसे पहला उत्तर दधिवाहन देगा । रक्त का मूल्य रक्त से चुकाया जायेगा । हत्या का बदला लिया जायेगा । अभिमान की बर्बरता को मनुष्य की महानता से पराजित किया जायेगा । लोभ को स्वार्थ के छद्म से अलग करके लोक के कल्याण का बीज डाला जायेगा ।'

रुद्रवर्मा चला गया है ।

'तुम क्यों खड़े हो श्रेष्ठि ! तुम क्यों नहीं जाते ?'

'देव ! रुद्रवर्मा क्षत्रिय है । उसका कम अकल होना उचित हो सकता है, परंतु मैं वैश्य हूँ और मनुष्य की भाषा को समझता हूँ ।'

'क्या कहना चाहते हो तुम ?'

'यही कि रुद्रवर्मा बहल सकता था, परंतु मैं नहीं बहल सकता ।'

मैं कहता हूँ : 'श्रेष्ठि ! अपनी बात को स्पष्ट करके कहो ।'

नंदक कहता है : 'देव ! आपने परिषद् को निमंत्रित किया है ?'

'हाँ ! क्यों ?'

'किंतु आपने युद्ध की घोषणा करने को नहीं बुलाया है परिषद् को !'

मैं आदर से उसके बुद्धि कौशल को सिर झुकाता हूँ मन ही मन। और कहता हूँ : 'नंदक ! सुना ही था कि वैश्य चतुर होता है, तुमने इसे प्रमाणित कर दिया ।'

'किंतु देव ! आज पहली बार मुझे अपनी बुद्धि पर शोक हुआ है ।'

'वह क्यों ?'

'देव ! मैं गर्भदास होता तो अच्छा होता !'

'तुम किससे डरते हो नंदक ?'

'दासत्व से !'

'किसका दासत्व श्रेष्ठि ?'

'वत्स का ।'

'वत्स का ! या वत्स के व्यापारियों का । कहो नंदक ! इस लोक में मृत्यु का भय और स्वार्थ, यही दो कारण हैं जिनके बल पर युद्ध होता है और यह दोनों ही मनुष्य की निम्न प्रवृत्तियों को उभारने वाले हैं । यदि इन्हें मनुष्य जीत ले तो वह लोक में स्वतंत्र है। उसे कोई डर नहीं ।'

'देव! आप कल्पना लोक के निवासी हैं, आप बहुत बड़े दार्शनिक हैं। मेरे पास सब जगह के व्यापारी आते हैं। अनाथ पिंडक मेरा मित्र है जो अनाथों को भोजन देने के कारण अनाथ पिंडक कहलाता है। उसने शाक्यगण में सुना था कि वहाँ शुद्धोदन राजा का पुत्र सिद्धार्थ घर छोड़ गया। जानते हैं क्यों ? वह सबपर छा जाना चाहता था । चक्रवर्ती बन जाना चाहता था। परंतु चक्रवर्तित्व को उसने क्षुद्र समझा। सोचा कि यह मनुष्य का सत्य नहीं था। और भी बड़ा सत्य खोजने निकला वह ! किंतु देव ! वह अलग चला गया। सबको छोड़ गया। उसने अ प थ पकड़ लिया देव ! धनधान्य से भरे खेतों पर उसने घोड़ों की रौंद का प्रयोग

नहीं किया। आप व्यक्ति की निष्ठा को लोक पर लाद रहे हैं। यह क्या उचित है? क्या बर्बर विध्वंसक इन देवोपम बातों से सुधर सकता है? सच कहता हूँ आर्य! यह न समझें कि यह सुवर्ण शृंगार मुझे बहुत प्रिय है। आप ही सोचते हैं, *ऐसा क्यों सोचें देव! और लोग भी इस लोक के विषय में कुछ न कुछ सोचा ही* करते हैं! यह वैभव तो कोई भी अपने साथ नहीं ले जायेगा। रह जायेगा सब कुछ यहीं, मानता हूँ मैं भी; यह प्रासाद, यह नगर···

'नहीं नंदक! तुम भूल कर रहे हो!' मैं कहता हूँ: 'मैं वैराग्य नहीं चाहता। मैं छोड़कर नहीं जाना चाहता। मैं इस सबके भीतर रहकर इसे ठीक करना चाहता हूँ।'

'मैं आपका बहुत आदर करता हूँ देव,' नंदक कहता है: 'किंतु यह मनुष्य सदा से ऐसा ही रहा है और रहेगा। सेना बनी है धर्म की स्थापना के लिये। जब दण्ड नहीं रहता तब अधर्मी सिर उठा लेते हैं।'

'अधर्म! विजयी को लोक धर्मरक्षक कहता है। जिसका खड्ग अधिक हत्या करता है, उसीके खड्ग का लोक जयगान करता है। पशुबल ही यदि शक्ति का आधार है तो धर्म क्या उसीपर आश्रित नहीं है? मुझे तो चारों ओर एक ही सत्य दिखता है, वह है भय! नंदक! भय ही सबको चला रहा है। मनुष्य जब पशु नहीं है, तो वह भय से क्यों आतंकित हो रहा है? क्योंकि वह मनुष्यत्व के गौरव को अभी तक नहीं पहचान पाया है। हम पशु से ऊपर हैं न? नंदक! हम भय क्यों करें?'

'भय देव!' नंदक आश्चर्य से कहता है: 'आप यह मानकर चल रहे हैं कि सब लोग अच्छे हैं।'

'हाँ नंदक! जन्म से कोई बुरा नहीं होता!'

'किंतु कर्म से तो हो जाता है?'

'हाँ नंदक! साहस एकत्र करो तो देखोगे कि यह कर्म का विभेद इस लोक में फैले मोह, लोभ, घृणा और ईर्ष्या से जन्म लेता है।'

'ठीक रहा देव! अब तो व्यापार ही अङ्गराज्य में चौपट होकर रहेगा। आर्य आज्ञा दें तो कहूँ?'

नंदक हँसता है।

'क्या कहते हो श्रेष्ठि ! तराजू अलग रखकर कहना।'

'क्यों नहीं देव ! ऐसा ही तो करूँगा। तराजू मैं उठाऊँ ही क्यों जब क्षत्रिय ही खड्ग उठाकर धर रहा है ! सब ही कर्मरहित हो रहे हैं !' वह कहता है : 'देव अपराध क्षमा करें। यही तो कायरता है।'

'जीवन तब तुम्हें कायर लगता है, जब एक ऊँचाई की बात होती है !'

नंदक के मुख पर कुटिल हास्य छा गया है। वह कहता है : 'क्षमा करें देव ! नपुंसक यदि ऋतुस्नान करके आई स्त्री को देखकर कहे कि ओ स्त्री ! मैं तुझे गर्भाधान नहीं कराऊँगा, क्योंकि इस कार्य से एक नय प्राणी का जन्म होगा। प्राणी फिर लोक में पाप करेगा। अतः इस शृंखला को आगे बढ़ाया ही क्यों जाये ? तो कैसा रहेगा देव ! वासना को जीतने और संयम की महत्ता को प्रतिपादित करने के पहले जानते हैं आर्य ! क्या आवश्यक है ? पौरुष का पहले परिचय देना होगा।'

'अर्थात् पुण्य की महत्ता को प्रतिपादित करने के लिये पाप करना होगा। इसका अर्थ तो यह है कि तुम पाप को मूलतः अधिक गौरवमय समझते हो। और तुमने प्रजनन धर्म जैसे निर्माण को पाप में कैसे गिन लिया ?'

'क्योंकि वह पशुत्व पर आधारित है।'

'तुम नंदक ! पुरानी दुनिया में रहते हो !' मैं कहता हूँ।

'देव आपकी प्रजा होने के नाते, अब शीघ्र ही नयी दुनिया में पहुँच जाऊँगा, क्योंकि इस दुनिया में तो शतानीक रहने नहीं देगा।'

परिषद् जमा हुई है।

गण्यमान्य सभ्य आकर अपने-अपने आसनों पर बैठ गये हैं। राज्य के अमात्य उनमें आगे बैठे हैं। द्वारों पर दण्डधर खड़े हैं। राजकुल की स्त्रियाँ दुमंज़िले अलिंद में बठी हैं। बाहर के विशाल प्रांगण में योद्धा खड़े हैं, सन्नद्ध। उनके बाद खुला मैदान है जिसमें प्रजा के लोग खड़े हैं। चंपानगरी में आज बड़ी भारी हलचल है।

नंदक आया तो साथ में लाया है जीमूतवाहन को। वे कह रहे हैं : 'लौट जाने दे मुझे नंदक ! मेरा यहाँ कोई काम नहीं है। मुझे राजविद्रोह के अपराध से कलंकित मत करवा। तू मेरे मित्र का पुत्र है।'

नंदक कह रहा है : 'आर्य ! आपके एक-एक पसीने की बूंद पर नंदक लोहू गिरायेगा। न हो तो सभ्यों से पूछिये। आपके बिना वे क्या यहाँ बैठेंगे ?'

सभ्यों ने हर्षध्वनि की है और रुद्रवर्मा उठकर कहता है : 'आर्य ! अब तो समय आया है कि उठकर विक्रम दिखाना होगा। अङ्गराज्य किसी एक व्यक्ति की मन-चाही का अखाड़ा नहीं है। प्रजा को उत्तर देना होगा। परिषद् वाला राज्य है, निरंकुश राज्य नहीं।'

मैं पहुँचता हूँ तो संदेह की लहर दौड़ गई है।

एक उत्साहहीन स्वर उठता है : 'महाराज की जय !'

परंतु प्राणहीन ! सब गंभीर ! सब मुझसे कुछ क्रुद्ध ! मैं सबकी दृष्टि में हीन !

मैंने अभिवादन स्वीकार किया है और खड्ग बगल में रखा है। अमात्य ने परंपरा के अनुसार मुझे पथ दिखाया है और तब मैंने सिंहासन ग्रहण किया है। सीमा प्रदेश के ग्रामीण एक ओर बिठाये गये हैं।

मैंने कार्य प्रारंभ करने की आज्ञा दी है।

कार्यस्थ ने उठकर अमात्य सुषेण से कुछ कहा है।

अमात्य सुषेण पुकारता है : 'आर्य जीमूतवाहन !'

वृद्ध जीमूतवाहन उठकर कहता है : 'देव ! और सभ्यगण ! मुझे आज्ञा हुई है कि मैं परिषद् की ओर से, राज्य की प्रजा की ओर से, स्त्रियों, बालकों और चैत्यों तथा राज्य के समस्त धर्म की ओर से आपके सामने कुछ निवेदन करूँ। आज्ञा है देव !'

मैं कहता हूँ : 'आर्य ! परिषद् का निर्माण राजा की निरंकुशता को रोकने के लिये किया गया था। वह बुद्धिमत्ता से यही करती आई है। मुझे परिषद् का महत्व विदित है। आप अपनी बात कहें।'

वृद्ध सिर झुकाता है और कहता है : 'आर्य !'

परिषद् में एक हलचल हुई है जैसे सब अब तैयार हो गये हैं। जीमूतवाहन कहता है : 'अङ्गराज्य छोटा है, किंतु वह आज तक वत्स, मगध, अवंति और कोसल की भाँति प्रसिद्ध रहा है अपने पराक्रम के बल पर। वह काशीराज्य की भाँति

कन्याशुल्क में नहीं दिया जा सकता !' हर्ष की एक लहर दौड़-सी गई और जीमूतवाहन ने फिर कहा : 'किंतु आज अङ्गराज्य अभी तक मोह निद्रा में सोया हुआ है। क्यों ? वत्स की सेना सीमा पर उजाड़ रही है हमारे हरे-भरे खेतों को और नगर चुप बैठा है ! मैं पूछता हूँ क्यों ? क्यों नहीं अभी तक सेनापति ने रक्षकों को भेजा ! मैं रुद्रवर्मा पर राजद्रोह करने का अपराध लगाता हूँ । उसे प्राणदण्ड दिया जाये क्योंकि उसने युद्ध के समय में कायरता दिखाई ।'

कोई नहीं बोलता । सेनापति उठ खड़ा हुआ है । सिर झुकाकर रुद्रवर्मा स्वर उठाता है : 'आर्य की जय ! मैं अपराध सिर पर लेता हूँ । मैंने अभी तक कायरता दिखाई है । किंतु आज तक सेनापति राज्य की सर्वोच्च शक्ति—महाराज—के आधीन रहे हैं । यदि परिषद् कहती है कि मैंने महाराज की आज्ञा न पाने के कारण भी रुककर भूल की है, तो मुझे प्रायश्चित्त करने में कोई आपत्ति नहीं है । मुझे या तो लड़ने भेजा जाये या जीवित तुषानल में भस्म करवा दिया जाये ।'

नंदक तो चिल्ला ही पड़ता है : 'तो सेनापति ! क्या आप कहना चाहते हैं कि अङ्गराज्य युद्ध का बदला नहीं लेगा ! आपने परिषद् से पूछा ? प्रजा के लोहू का बदला लेना क्या परिषद् का धर्म नहीं है ? खंड-खंड हो जाये यह राज्य यदि यहाँ के क्षत्रिय भयभीत होकर राज्य को बेच देना चाहते हैं । परिषद् से मैं पूछता हूँ । युद्ध या समर्पण ! युद्ध या समर्पण ! !'

गंभीर घोष उठता है ।

परिषद् का स्वर एक है : 'युद्ध ! युद्ध का बदला युद्ध ! हत्या का बदला हत्या ! बलात्कार का बदला बलात्कार ! अग्नि का बदला अग्नि ! ध्वंस का बदला विध्वंस ! नाश का बदला सर्वनाश !'

परिषद् के भवन के पाषाण काँपने लगे हैं । उस स्वर को सुनकर बाहर योद्धा हुंकारने लगे हैं और अनंत प्रतिध्वनि की भाँति वह गर्जन कई गुना होकर बाहर प्रजा के कण्ठों में धकधकाने लगा है । चंपा नगर आग का शोला बनकर धधकने-सा लगा है ।

जब कोलाहल शांत होता है, सब मेरी ओर देखते हैं ।

मैं कहता हूँ : 'किंतु हिंसा का अंत कहाँ है सभ्यगण ! पशुत्व का उत्तर क्या पशुत्व

है ? शतानीक की बर्बरता क्या इस तरह कुचली जा सकती है ? अङ्गराज्य निर्बल नहीं है, वीरों की खान है। अङ्ग ने पहले भी वत्स के अभिमान को खंडित किया है। वीर ही ऊँचे प्रयोग कर सकते हैं। अतः यदि हिंसा का पथ न अपनाया जाये तो ! !'

'हिंसा !' जीमूतवाहन चिल्लाता है : 'बर्बर आ रहा है, हमारी बहन-बेटियों को नंगा करके उन्हें असम्मानित करने। शतानीक की सेना में कुरु, पञ्चाल ही नहीं, मद्र तक के लोलुप भेड़ियों जैसे सैनिक हैं। वे उच्चस्तर के प्रयोगों की शिक्षा लेने बैठे रहेंगे ? जो लोक में केवल तपस्वियों के लिये साध्य है, वह आप बर्बर और पसीने की बदबू से भरे बर्बर लोलुप सैनिकों को सिखायेंगे, वह भी तब जब कि हमारे घरों में से आग की लपटें निकल रही होंगी ?' जीमूतवाहन का भर्राया स्वर परिषद् पर थर्राने लगा : 'हम अपने बच्चों की चीत्कारों को सुनते हुए उन आक्रमणकारियों से यह कहेंगे कि भाई देखो ! आत्मा तो सबमें समान है, क्यों व्यर्थ पाप करते हो ? राज्य न हम साथ ले जायेंगे, न तुम ले जाओगे !'

परिषद् में अट्टहास उठ रहा है।

जीमूतवाहन विनम्रता से सिर झुकाता है और कहता है : 'देव! अब भी समय है। एक इंगित कर दें और देखें कि अङ्गराज्य क्या है ! कहिये—युद्ध !'

मैं उठकर कहता हूँ : 'मैं इसे स्वीकार नहीं करता ! युद्ध से युद्ध, युद्ध से युद्ध ! शांति से शांति ! शांति से शांति ! युद्ध से शांति नहीं—विनाश। शांति से युद्ध नहीं—निर्माण और समृद्धि ! इन दोनों का भेद मूलभूत है और सदा ही बना रहेगा।'

'तो परिषद् स्वतंत्र है ?' वृद्ध जीमूतवाहन पूछता है, जैसे उसे मुझसे ऐसी आशा नहीं थी।

'परिषद् स्वतंत्र है।' मैं कहता हूँ : 'आर्य ! वह स्वतंत्र ही रहेगी। किंतु मैं अङ्गदेश का राजा हूँ अतः परिषद् को सुझाव देना मेरा अधिकार है। इसलिये सुझाव देता हूँ।' मैंने देखा सब उत्सुक थे। मैंने सिर उठाकर कहा : 'सभ्यगण सुनें ! एक बार, एक बार मुझे अवसर दें। आप अपनी तैयारी करें। परंतु मुझे एक अवसर दें !'

'आज्ञा आर्य !' जीमूतवाहन कहता है : 'आप क्या आज्ञा देते हैं !'

'इस बुराई की जड़ हमारा विश्वास है', मैं कहता हूँ : 'यह मान लिया गया है कि वीरता इस लूट-मार में छिपी हुई है किंतु इसमें मनुष्य का निर्माण नष्ट हो जाता है। उसे बार-बार वीभत्सता का सामना करना पड़ता है। कला और विद्या का युद्ध में विनाश होता है। हमारी वर्णधर्म की मान्यता ही हमारे अपराधों को मान्यता देती है। क्षत्रिय का धर्म ही बर्बरता कही गई है। इसीलिये इस क्रूर कर्म को करते हुए क्षत्रिय को लज्जा नहीं आती। शतानीक युवक नहीं है। आयु के ढलान पर है। उसे इतनी तृष्णा किसलिये हुई ! क्योंकि हमारी यह प्राचीन भूमि ऐसे दर्शन को पालती रही है, जिसमें लूट को भी उचित कहा जाता रहा है। एक राजा दूसरे पर आक्रमण करता है। स्त्रियों को उठा ले जाता है, और निरीहों की हत्या करता है। बाकी लोग चुप रहते हैं कि हमें इस सबसे क्या मतलब ! हमारे स्वार्थ अलग-अलग हैं।'

'यह कल्पना की सुषमा है देव !' जीमूतवाहन कहता है : 'आख़िर यह अलग-अलग राज्य आये कहाँ से ?'

'मृत्यु का भय होता है ?' मैं कहता हूँ।

'मृत्यु का भय !' जीमूतवाहन कहता है और हँसता है और सहसा वह हाथ उठाकर ऊँचे स्वर से कहता है : 'परिषद् पुकार कर कहे कि क्या जीमूतवाहन ने कभी अङ्गराज्य के लिये मरना अस्वीकार किया है ?'

'कभी नहीं !' एक स्वर उठता है।

'देखा आर्य !' वृद्ध जीमूतवाहन मुझे दिखाकर कहता है : 'अब भी विश्वास नहीं हुआ ?'

'तो एक बार, केवल एक बार मुझे अवसर दो। परिषद् अपना युद्ध संचालन-कार्य रोके नहीं। केवल एक बार मुझे अपना प्रयोग करने की स्वीकृति चाहिये। परिषद् मेरी ओर विश्वास से देखे और स्वीकृति दे।'

'उसके बाद···' जीमूतवाहन कहता है : 'तब तक प्रजा को हम लुटता, कटता, जलता भी देखते रहें; किंतु उस प्रयोग के असफल होने पर, उसके बाद क्या होगा ?'

'युद्ध !' मैं ललकार कर कहता हूँ : 'युद्ध ! मृत्यु तक युद्ध ! शताब्दियों तक बर्बर

की पराजय की गाथा लिखने के लिये युद्ध !बच्चे-बच्चे का युद्ध !अङ्ग की सेना का मैं स्वयं सेनापति बनूँगा और शतानीक से सबसे आगे मैं लड़ूँगा ।'

जयघोष होने लगा है । भीम गर्जन । दिगंत हिल उठे हैं । सन्नद्ध नागरिकों के ठट्ठ बाहर आवेश से भर गये हैं ।

'महाराज ने आज्ञा दे दी ।'

'कौन है शतानीक ! है ही कितना ।'

'एक बार फिर वत्स का अभिमान खंडित होगा ।'

'हत्यारा अभिमानी चूर-चूर हो जायेगा । अबकी बार ऐसा कुचलेंगे कि कभी सिर न सठा सके ।'

नागरिकाएँ गाने लगी हैं : ओ वीरो ! उठो ! तुम्हारे देश पर संकट आया है । मगध के पश्चिम से जो सेना आई है वह लुटेरों की सेना है । वह जंगलों में छिपकर आई है । मगध, कोसल, और वैशाली——तीनों के साथ हम शांति से रहे हैं और रहते आये हैं । पर यह सुदूर का लुटेरा है शतानीक । बड़ा लोलुप है । वह इतनी दूर शासन करने नहीं आया है, वह हमें लूटने आ रहा है । वह मगध को दोनों ओर से घेरना चाहता है, पर यह उसका असंभव स्वप्न है । वह तुम्हें कबतक कुचल सकता है !'

और इन गानों का असर ऐसा पड़ने लगा है कि लोगों में जोश दुगना-दुगना होने लगा है ।

बालकों की टोलियाँ बन गई हैं जो कभी चंपा नदी के माँझियों तक जाती हैं और उनके गीत सुनती हैं, कभी कुछ करती हैं । मैं सोचता हूँ । शतानीक का इतना साहस हुआ कैसे ? वह गंगातीर के वन में छिपकर आया है । इस समय कोसल यदि उसपर उत्तर से टूट पड़े तो ? अवन्ति के लिये भी वत्स खुला पड़ा है । और मगध का बिंबसार ? तीन-तीन की चिंता न करके उसका छिपकर मगध के उत्तर से वन प्रांत में से चंपा में चढ़ आना क्या साधारण बात है ? फिर गंगा के उत्तर में तो खड़ी है लिच्छवियों की शक्ति ! हम जो देखते थे कि हमारी सैनिक शक्ति क्या कम है, वह कम कहाँ है ! लिच्छविगण को वत्स से कम खतरा है ? इस समय तो बहुत आसानी से वत्स की सेना को मारा जा सकता है ! गुप्तचर यदि वैशाली को

भड़का दें, मगध को भड़का दें, शाक्यों को भड़का दें। तीन सेनाएँ घेर लें वत्स की सेना को। दक्षिण-पश्चिम में तो कलिंग है, फिर बङ्ग है। इधर से तो वह चंपा तक आ ही नहीं सकता। अतः उसकी सेना केवल उत्तर में है।

किंतु यह तो हुई कूटनीति। इससे सत्य की विजय कहाँ हुई? इसमें वत्स पराजित तो हुआ, किंतु उसकी हिंसा तो नहीं मिटी?

रुद्रवर्मा पथों पर लोगों को उत्साहित करता है। मैं जीमूतवाहन को अपने काम पर भेजकर प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मुझे आशा है कि काम हो जायगा। परंतु मुझे नहीं मालूम है कि मेरे अनजाने ही श्रेष्ठि नंदक और रुद्रवर्मा एक काम और कर रहे हैं। एक ओर तो उनके प्रचार से अङ्गदेश का एक-एक बच्चा लड़ने को मतवाला हो रहा है, दूसरी ओर उन्होंने पुरानी संधियों का हवाला देकर शाक्य, लिच्छवि, मागध और कोसलों को गुप्तचरों द्वारा यह सूचना भिजवा दी कि शायद वत्स का अङ्ग से मिल जाने का इरादा हो गया है, क्योंकि मृगावती और धारिणी बहनें हैं। इससे सबको खतरा पैदा हो गया है। मैं इसके विरुद्ध हूँ, परंतु वह यह काम परिषद् से सलाह करके चुपचाप कर चुके हैं। जय, जय ही उनका एकमात्र उद्देश्य है। उसके लिये वे सबकुछ कर सकते हैं। उनकी इच्छा है कि कोसल, शाक्य, लिच्छवि और मागधों की मार से वत्स सेना भिचाव में आ जाये और उसका संबंध उसके अपने राज्य से छूट जाये। उस समय अन्यों के साथ ही अङ्गदेश की चंपापुरी से सेना निकले और वत्स की सेना के हिरौल को नष्ट कर दे। गुप्तचर महासेन चण्डप्रद्योत के भी पास भेजे जा चुके हैं कि वत्स की सेना गंगातीर पर फँसी पड़ी है, तुम विदिशा की ओर से आक्रमण कर दो। तुम्हें बढ़ता देखकर यदि कोई टोकेगा तो तुम मगध और कोसल से वत्स को बाँट लेना। वसुमति ने यह सुनकर कहा है: 'पिता क्या राजनीति ऐसी ही है?'

मैं कहता हूँ: 'पुत्री! यह लोक में आत्मरक्षा के पुराने तरीके हैं। इसको इसे भिड़ा दो, इसको उससे भिड़ा दो। तुम जो सुना करती हो न? कि पहले भी अङ्ग के वीरों ने वत्स के बर्बरों के दाँत खट्टे कर दिये थे, वह भी इन्हीं चालों का फल था। यह सच है कि उसी तरीके से वत्स को मारा जा सकता है, पर देखो पुत्री! यह मार्ग मेरी समझ में अच्छा मार्ग नहीं है। पुत्री! यह रुद्रवर्मा, यह नंदक आज राज्य के रक्षक

बनते हैं न ? यदि मैं अपना परंपरात्मक रूप धारण कर लूँ तो मेरे सामने बिल्ली बन जायेंगे । परंतु मैं नया प्रयोग कर रहा हूँ अतः वे मुझे उत्तर भी देते हैं, अवज्ञा भी करते हैं । यह मुझे बुरा लगा था, परंतु मैंने सोचा कि जो आतंक से दबाये जाते हैं वे उसके हटते ही सिर भी उठाते हैं । इन्हें प्रेम से जीतने के लिये दूसरा मार्ग अपनाना होगा ।'

उधर जीमूतवाहन पहुँचता है । वन प्रदेश में शतानीक डेरा डाले है ।

'कौन हैं ?'

'देव ! मैं हूँ जीमूतवाहन । अङ्गराज का दूत । वत्सराज के लिये संदेश लाया हूँ ।'

शतानीक कहता है : 'कहो दूत ? क्या संदेश है ?'

वहाँ घने पेड़ों की छाया है । जीमूतवाहन एक आसन पर बिठाया गया है ।

'संवाद यह है कि अङ्गराज ने इस आक्रमण का कारण जानना चाहा है ।'

'आक्रमण ! कहाँ है आक्रमण ! '

जीमूतवाहन कहता है : 'देव ! क्या आखेट करने इतनी दूर आये हैं ?'

'क्या हमें अपने विषय में अङ्गराज्य को प्रत्येक बात बताना आवश्यक है ?'

जीमूतवाहन हँसकर कहता है : 'देव ! अङ्गराज्य में आपके शिकारी सैनिक खेतों और गाँवों में शायद शेर-चीते ढूँढ़ने जाते हैं ?'

परंतप शतानीक भौं उठाता है ।

'हाँ देव ! ' वृद्ध जीमूतवाहन कहता है : 'शायद शहद के छत्ते के भ्रम में आपके सैनिकों ने मधुविलिया ग्राम में अनाज लूट डाला । मैं समझता हूँ यह भी भ्रम में हो गया ! '

'क्या कहना चाहते हो तुम दूत ?'

'यह युद्ध किसलिये महाराज ! ' जीमूतवाहन पूछता है ।

'युद्ध दो समर्थों में होता है दूत ! अङ्गराज्य जैसे तो वत्स में छोटे-छोटे कई विषय हैं । और फिर तुम क्षत्रिय लगते हो ! शौर्य के विषय में क्षत्रिय पूछे यह क्या आश्चर्य की बात नहीं है ?'

'हाँ देव ! यही म सोचता था,' जीमूतवाहन कहता है : 'इस छोटे-से अङ्गराज्य

का तो स्वयं महाराज को पुराना अनुभव है। वह क्या महाराज इतनी जल्दी भूल गये होंगे ? फिर भी पूछता हूँ कि शौर्य के लिये क्षत्रिय क्या यों ही हत्या करता फिरेगा ?'

शतानीक तिलमिला गया है। वह टेढ़ी आँखों से जीमूतवाहन की ओर देखता है और कहता है : 'दूत क्षम्य है, यह सत्य है, परंतु फिर भी विनय सीखो दूत ! महाराजाओं से बातें करने का यही तरीका है ? यही सीखा है तुमने अङ्गराज्य में ? आकर तुमने अभिवादन नहीं किया। मैंने इसपर भी तुम्हें दूत जानकर क्षमा कर दिया। परंतु अब तुम मुझे शिक्षा भी दे रहे हो ? इस दुस्साहस का परिणाम अङ्गराज्य के लिये क्या होगा जानते हो ?'

'एक हाथ में खड्ग उठाकर दूसरे से विनय सिखाने के आपके गौरव का मैं जयजयकार करता हूँ। मेरी मृत्यु, भट्टारकपादीय जीमूतवाहन की मृत्यु, वत्स की सेना को एक समय खंड-खंड करके नष्ट करने वाले क्षत्रिय जीमूतवाहन की मृत्यु कोसांबी के लिये क्या होगी, यह भी न भूलें महाराज !'

वृद्ध जीमूतवाहन खलभला गया है। वह फिर कहता है : 'मैं संधि का संदेश नहीं लाया हूँ देव ! मैं यह कहने आया हूँ कि इन निरीह सैनिकों की हत्या न कराइये। अपने दुरभिमान में अपने को संकट में न डालिये। जान रखिये कि अवन्तिराज वत्स की सीमा तक आ गये हैं। कोसल ने वत्स को उत्तर से घेर लिया है और महाराज बिंबसार की सेनाएँ वत्स को पूर्व की ओर से घेरे खड़ी हैं। जान लीजिये अपने हृदय में देव ! मगध हमारी ओर है ! और जिस वन में आप बैठे ह, वह मगध, शाक्य और वज्जियों की सेना से घिरा हुआ है।'

शतानीक जैसे डगमगा गया है पर बोलता है हँसकर : 'मुझे डराते हो दूत ! यह असंभव है। वत्स इतना सुदृढ़ है कि उसे कोई नहीं जीत सकता। सब कुछ हो जाये, परंतु एक बार अङ्ग की धूलि को जब तक मेरे घोड़े नहीं रौंद लेंगे, एकबार जब तक उसमें मेरी सेना के खच्चर नहीं लोट लेंगे, तब तक, तब तक वत्स के वीरों को चैन नहीं आयेगा !'

जीमूतवाहन उठ खड़ा होता है और कहता है : 'इंद्र आपकी रक्षा करें देव ! अङ्गराज्य में आकर वत्स की सेना यमद्वार से निकलेगी !'

'शांत !' शतानीक चिल्लाता है : 'तुम सीमा से बाहर जा रहे हो !'

'देव ! सीमा का उल्लंघन कौन कर रहा है, यह तो प्रगट ही है। एक बार फिर चेतावनी देता हूँ कि वत्स की सेना का चिन्ह भी नहीं बचेगा। अतः यहीं से लौट भागने का प्रबंध कर लें, क्योंकि आपका तो अब बचकर निकला भी कठिन है ! और यह सब दया अङ्गराज्य ही क्यों कर रहा है वह भी बता दूँ। इसलिये कि महारानी धारिणी अपनी बहन मृगावती को विधवा नहीं बनाना चाहतीं !'

'चले जाओ दूत ! तुम अबध्य हो !'

'तो देव ! यही उत्तर है ?'

'हाँ दूत ! यही उत्तर है ! वत्स की सेना नष्ट हो जाये, वत्स को अन्य राजा खंड-खंड करके बाँट लें, परंतु अब देखो,' शतानीक खड्ग उठाता है : 'यह खड्ग है, और तुम्हारा अङ्गराज्य है।'

'क्षत्रिय का विवेकहीन क्रोध प्रसिद्ध है देव !' जीमूतवाहन हँसकर कहता है : 'मृत्यु के मुँह में कूदने का और ऐसा अवसर ही कहाँ मिलेगा। हमारा काम था बचाना। आगे आपकी इच्छा। परंतु एक बात याद रखिये ! वैशाली मगध की मित्र है। इसे मुझे दे दीजिये देव !' यह कहकर जीमूतवाहन शतानीक की तलवार की तरफ़ इंगित करता है।

शतानीक वैसे ही चिंता में पड़ा हुआ है। जीमूतवाहन घिसा हुआ कूटनीतिज्ञ है। उसकी बात न समझकर शतानीक कौतूहल से पूछता है : 'क्या करोगे आर्य !'

'देव के पास क्या एक भी खड्ग अतिरिक्त नहीं है ?'

शतानीक फिर झुँझला उठता है और कहता है : 'दूत ! क्या परंपरा है यह कि दूत अबध्य है !'

'परिषद् को भेंट दूँगा महाराज !' जीमूतवाहन कहता है : 'और कहूँगा कि इसी खड्ग से महाराज शतानीक वीर क्षत्रियों की तरह अङ्गराज्य को नष्ट करने आ रहे हैं। वे कह चुके हैं कि किसीमें साहस हो तो रोक ले। हमारे महाराज को पता तो चले !'

'ले जाओ !' शतानीक कहता है : 'एक बार दिखा दो यह खड्ग।'

जीमूतवाहन खड्ग लेकर कहता है : 'आर्य ! यह खड्ग तो अङ्गराज्य में

उदाहरण बनाकर रखा जायेगा। यही तो बतायेगा कि अभिमान का फल क्या होता है। समय रहते न चेतने का फल किस प्रकार मिलता है।'

शतानीक हँसता है और कहता है : 'क्षत्रिय ! तुम चतुर हो। हम प्रसन्न हैं। अङ्ग, बङ्ग और कलिंग की अनार्य भूमियों में भी इतनी चतुरता है जानकर हम प्रसन्न हुए। युद्ध तो होते रहते हैं। क्षत्रियों को इसलिये वैश्यों की-सी ग्लानि नहीं करनी चाहिये। अपनी तरफ़, और पञ्चालों में भी, रोना-धोना नहीं होता। यह स्त्रियों का-सा रोना इधर ही अधिक सुनाई देता है। बल के प्रति यह नारी दृष्टि-कोण—अहिंसा, हिंसा···यह सब मैं सुनता हूँ यहाँ ? मैं नहीं समझता। चारों ओर संकट है तो घबराना क्या ? होने दो। सब ठीक हो जायेगा। तुम वीर हो दूत ! हम तुमसे प्रसन्न हैं। जा सकते हो !'

जीमूतवाहन के लौटने का संवाद चंपा में बिजली की तरह फैल गया है।

क्या होगा अब ! सब यही पूछते हैं।

वैश्य बहुत परेशान हैं। किसीका सार्थ वैशाली से लौट रहा है, किसीका राज-गृह से। गंगा मार्ग की सुरक्षा पर किसीको भी विश्वास नहीं है। काशी में ही कुछ सार्थ अटक गये हैं।

उधर कृषकों में बेचैनी है। शतानीक का काम है चुपचाप गाँवों पर हमला करना। लूटना और भाग जाना। निश्चय ही वह जानता है कि अङ्ग उसका नहीं हो सकता। मगध उसे नहीं छोड़ेगा कि वह दोनों तरफ़ से उसे घेर ले। और स्त्रियाँ हैं कि उन्हें दुतरफ़ा भय है। अपने प्राणों का, और अपने सम्मान का भी। सम्मान का भय और भी हिला देने वाला है। बच्चे अलग आतंकित-से हैं। और अब नाग-रिक कहते हैं कि वत्स जब राज्य नहीं कर सकता तो केवल लूटना ही जब उसका उद्देश्य है, वह कोई नियोजित क्रम से थोड़े ही आक्रमण करेगा। उसे तो वत्स में भी चोट पड़े तो ठीक रहे।

सैनिकों को नगर ग्रामों में बड़ी सहूलियतें हो गई हैं। बल्कि ग्रामों में वे स्त्रियों का भी भोग करने लगे हैं चुपचाप, जो स्वयं उन्हें प्रसन्न करती हैं। सैनिकों से वैसे ही लोग डरते हैं और अब तो वे रक्षक भी बन गये हैं। मैं इस समस्त अनाचार को

देखता हूँ और सोचता हूँ कि किस तरह इस सबको सदा के लिये मिटा दिया जाये !

श्यामला धारिणी से कहती है : 'महाराज अब क्या करेंगे देवी !'

धारिणी कहती है : 'वत्स तो बर्बरता पर उतर आया है। क्षत्रिय प्रतिहिंसा का कोई कारण नहीं। संवाद आ रहे हैं कि वत्स के वैश्य इस युद्ध के विरुद्ध हैं। उनके भी तो सार्थ अंङ्ग,बंङ्ग में फँसे हुए हैं। परंतु कुछ हैं जो अंङ्ग की पराजय में ही समृद्धि देखते हैं।'

धारिणी मेरे पास आती है और पूछती है : 'देव ! अब क्या होगा !'

मैं कहता हूँ : 'युद्ध !'

धारिणी प्रसन्न हो गई है। कहती है : 'आर्य विजयी होंगे। स्वामी ! राजनीति भी कैसी है कठोर ! मृगावती की कुछ भी नहीं चली ! युद्ध ही होगा !'

'हाँ यह रुकेगा नहीं !' मैं कहता हूँ : 'सुन नहीं रही हो, कि वत्स सेना नित्य आक्रमण कर रही है। शीघ्र ही वह राजधानी पर भी आक्रमण करेगी।'

धारिणी काँप उठती है।

वह कहती है : 'देव ! तब तो डटकर युद्ध करना होगा।'

मैं हँसकर कहता हूँ : 'निश्चय !'

वसु आ गई है।

वह प्रणाम करके कहती है : 'आर्य ! सेनापति ने सूचना दी है कि स्त्रियाँ सम्मान की रक्षा में तत्पर रहें।'

'पुत्री ! तू डरती है ?' मैं पूछता हूँ।

वसुमति माँ की ओर देखती है, फिर मेरी ओर; तब उसके होठों पर मुस्कराहट-सी फैल जाती है। वह कहती है : 'किससे देव !'

'शत्रु से !'

'मैं क्यों डरूँगी !'

वह शांत है। धारिणी कुछ विस्मय से, कुछ आतंक से दबी-सी खड़ी है।

मैं कहता हूँ : 'युद्ध सिर पर आ गया है देवी ! इसलिये मुझे तत्पर होना चाहिये। मेरी साधना का क्षण आ गया है। अब या कभी नहीं। बहुत बड़ा दाँव है, परंतु इसकी सफलता पर सब कुछ निर्भर है। है न वसु ?'

धारिणी समझी नहीं है। वसु कहती है : 'पिता ! बर्बर से सामना करना है। इसमें आत्मबल चाहिये, यही न कह रहे हैं आप ?'

'हाँ बेटी,' मैं कहता हूँ : 'तू समझ रही है। यह वीरता नहीं है। युद्ध एक पाप है, एक पशुत्व है। इस पशुत्व में मनुष्य अपने झूठे अहंकार को तुष्ट करता है। उसके पीछे कोई ऐसा आधार मिल जाता है कि राजा के अतिरिक्त भी अन्य लोग वह हत्याकाण्ड चाहते हैं। इस बार वत्स की सेना को लूट की आवश्यकता है और लूट के लिये अपनी सीमा के बाहर के लोग ढूँढ़े जाते हैं।'

'हाँ पिता', वसु कहती है : 'बात यही है।'

'यही नहीं,' मैं कहता हूँ : 'सीमा का प्रसार करते समय भी अन्य स्वार्थ बीच में आ जाते हैं।'

धारिणी समझने लगी है। वह कहती है : 'देव ! यह तो स्पष्ट ही है कि लोभ युद्ध का मूल कारण है, परंतु उससे होता क्या है ! वह तो होता ही है !'

'उसका निराकरण ही तो खोजना है देवी !' मैं कहता हूँ : 'और यह सब शब्दाडंबरों में छिपा लिया जाता है। मनुष्य बड़ा चतुर होता है। वह अपनी कुटिलता को सदैव न्याय का आवरण देना चाहता है। मैं यही स्पष्ट कर दूँगा। इस बार का युद्ध नया युद्ध होगा। हत्यारे में लज्जा जगानी होगी। उसको मनुष्यत्व का पाठ सिखाना होगा।'

मेरा मन उल्लास से भर गया है।

धारिणी कहती है : 'देव ! मुझे भय हो रहा है।'

'क्यों देवी ! मेरे रहते तुम्हें भय क्यों ? अमरता तो हमारे पक्ष में नहीं है। मृत्युलोक है यह ? जीवन का अंत यदि ससम्मान मृत्यु में होता है, तो उसके लिये तैयार रहना चाहिये।'

धारिणी मेरी ओर देखती है जैसे बहुत बड़ी घुमड़न भीतर ही भीतर उसे व्याकुल कर रही है। मैं बाहर आ गया हूँ और रथ पर चल पड़ा हूँ।

परिषद् आज खचाखच भरी है। वृद्ध जीमूतवाहन के लौट आने पर सबमें एक उत्सुकता छा गई है। सब जानते हैं कि वह शतानीक से मिल आया है और उससे जो बातें हुई हैं उनका फल अच्छा नहीं निकला है।

मैं कहता हूँ : 'मेरा प्रयत्न सफल नहीं हुआ सभ्यगण !'

सब सुनते हैं और सबके मुख पर ऐसा भाव आता है जैसे उन्हें पहले से ज्ञात था कि यही होने को था और उन्हें इसका गर्व भी था कि वे ठीक निकले थे।

मैं कार्यस्थ से कहता हूँ : 'ऐरावत ! ग्रामीणों को संवाद पहुँच गया ?'

'पहुँच गया महाराज !' वह उत्तर देता है।

मैं फिर कहता हूँ : 'सभ्यगण ! यद्यपि इस बार शतानीक ने अस्वीकार कर दिया है, परंतु मैं निराश नहीं हुआ हूँ, क्योंकि विषय उसे ठीक से समझाया नहीं गया है।' मेरी बात को सुनकर कोई भी प्रसन्न नहीं हुआ है।

'तो क्या देव !' रुद्रवर्मा पूछता है : 'इस बार फिर समर्पण की बात चलाई जायेगी ?'

'समर्पण !' मैं काटता हूँ : 'समर्पण कौन कर रहा है ?'

'देव ! लोक यही कहता है।'

'सेनापति ! समर्पण का अर्थ है कि हम युद्ध करने के योग्य नहीं रहे। हम कायर हैं, अतः हमपर दया की जाये। परंतु हम न असमर्थ हैं, न कायर। हम किसीकी दया की भीख नहीं माँगते। हम तो उल्टे उसकी विवेकहीनता पर करुणा करते हैं। हम तो शतानीक को बुद्धि का मार्ग दिखाना चाहते हैं।'

जीमूतवाहन उठकर कहता है : 'देव ! और सभ्यगण ! यह राजनीति का क्षेत्र है, इसमें इतनी ऊँची बातों का स्थान कहाँ है ? मेरी क्षुद्र मति यही कहती है कि अब हमें बहुत ठोस ढंग से काम करना चाहिये। वैशाली के लिच्छवियों को वत्स से पुराना असंतोष है। उधर शाक्यों में भी काफ़ी संदेह है वत्स के प्रति। प्रसेनजित् तो वत्स के उत्तर में तैयार है ही। अवंति का महासेन चण्डप्रद्योत भी इस अवसर को देखकर प्रसन्न होगा। छोटे राज्यों की सत्ता, बड़े राज्यों के बीच में, इसी प्रकार जीवित रहती है। इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता है कि तुरंत ही मगध को समाचार भेजा जाये। बिंबसार ऐसा मौका कभी नहीं चूकेगा। वत्स ने उसकी सीमा में घुसकर अतिक्रमण किया है। वत्स की सेना गंगामार्ग से भी आई होगी अवश्य। वन में आई है वह, यह सब ही जानते हैं। परंतु हर अवस्था में यह सेना का आना-जाना अतिक्रमण ही है। बिंबसार को सूचना मिलते ही वह वत्स की

सेना का लौटने का मार्ग बंद कर सकता है, और हम वत्स की सेना को वैशाली की मदद से नष्ट कर सकते हैं। यदि बिंबसार वत्स पर इधर से आक्रमण करेगा तो अवश्य हमारे गुप्तचरों से सूचना पाकर कोसल और अवंति भी वत्सराज्य पर आक्रमण कर सकते हैं और इस प्रकार वत्स सदा के लिये मिट सकता है। आज की परिषद् की गुप्त सभा में मैं प्रस्ताव करता हूँ कि शीघ्रातिशीघ्र यह कदम उठाया जाये और वत्स का यह शत्रुत्व सदा-सदा के लिये मिटा दिया जाये।'

उसकी बात सुनकर परिषद् में हुंकार सुनाई देती है।

रुद्रवर्मा कहता है : 'आर्य जीमूतवाहन पुराने योद्धा हैं, विचक्षण राजनीतिज्ञ हैं, अतः मैं उनका प्रस्ताव स्वीकार करता हूँ। परंतु एक बात है कि यदि वत्स पर अवंति और कोसल ने आक्रमण नहीं किया तो क्या होगा? उस अवस्था में बिंबसार अकेला वत्स पर छा जायेगा और वैशाली इस समय उसकी ओर है ही। जब उसका राज्य इतना विशाल हो जायेगा, तब अङ्गराज्य कैसे सुरक्षित रह सकेगा ? कोसल ने जिस प्रकार काशी को हड़प लिया, उसी प्रकार अङ्गराज्य को मगधराज्य समाप्त कर देगा। उस अवस्था में अङ्गराज्य क्या करेगा ?'

किंतु रुद्रवर्मा की बात सुनने की लोगों में वीरता नहीं है। युद्ध ! युद्ध ! की पुकार सुनाई देने लगी है।

नंदक उठता है और बोलता है : 'अवश्य ही सेनापति की बात ध्यान देने योग्य है। परंतु एक बात और भी है। वत्स राज्य छोटा नहीं। हम वत्स की सेना को इधर समाप्त करें उधर बिंबसार वत्स पर आक्रमण करे। हम कोसल और अवंति को वत्स पर छोड़ें और उस समय कौशल से इन तीनों में फूट डाल दें। राज्य के लिये तीनों बड़ी शक्तियाँ परस्पर लड़ेंगी उस समय·····' नंदक चारों ओर देखता है।

मैं निस्तब्ध बैठा हूँ। नंदक फिर कहता है : 'अङ्ग, अवंति और कोसल से संधि करे और मगध पर पीछे से हमला करे। मगध पर अङ्ग शासन कर सकता है।'

'यह असंभव है।' रुद्रवर्मा काट देता है।

सदस्यों में बहस होने लगती है।

'मगध बहुत बड़ा है।'

'पर वह खण्डित रहेगा।'

'फिर भी कठिन है। लंबे युद्ध का मार्ग है।'

श्रेष्ठि नंदक चिल्लाता है : 'महाराज ! आप कैसे शांत बैठे हैं। आपने कुछ नहीं कहा ?'

सब मेरी ओर देखते हैं।

मैं कहता हूँ : 'नंदक ! पहले तुम सब कह लो, मैं तो अंत में ही कहूँगा।'

'देव ! कहना हो चुका, अब आप अपना निर्णय दीजिये। यह राजनीति है। इसमें कौशल की आवश्यकता है।' नंदक मेरी ओर कुछ खीझकर देखता है।

'मैं तुम्हारा भय देखकर लज्जित हो रहा हूँ श्रेष्ठि ! मुझे ग्लानि हो रही है।'

सब चौंक उठते हैं।

'देव !' नंदक साँस खींचता है।

जीमूतवाहन दाढ़ी पर हाथ फेरता है और रुद्रवर्मा की आँखों से आँखें मिलाता है। तब अमात्य सुषेण अपना उष्णीश सिर पर ठीक से साधकर कहता है : 'देव ! इसपर स्पष्टीकरण चाहिये। हमारा भय ! हमारा भय क्या है ?'

निस्संदेह मेरी बात ने उन लोगों के मन को बेध दिया है। वे इस चोट के लिये तैयार नहीं हैं।

मैं कहता हूँ : 'वीरता क्या है ? मगध को बुलाना क्या वीरता है ? मगध की प्रजा का इसमें क्या दोष है ? शतानीक की महत्वाकांक्षा के लिये उसकी प्रजा पर क्यों आपत्ति लाई जाये ? आपत्ति हमपर आई है। इसका उत्तर क्या दूसरों को आपत्ति में डालना है ? यह कहाँ का तर्क है, मैं नहीं समझता। कौन नहीं जानता कि मृत्यु अवश्यंभावी है। उससे डरना क्या उचित है ? दूसरे को मारना वीरता नहीं। आत्मरक्षा के लिये दूसरे को मार देना वीरता है। इसीको आज तक वीरता कहा जाता रहा है। परंतु इससे भी बड़ी वीरता है, अपने को दूसरे की रक्षा के लिये मिटा देना।'

वृद्ध जीमूतवाहन ऐसे मुस्कराता है जैसे बड़ी भारी दया ने हृदय पर घर कर लिया हो। भाव है—कैसे करें ? इसकी तो बुद्धि ही बिगड़ गई। रुद्रवर्मा सिर हिलाता है जैसे अब कोई गुंजायश नहीं।

नंदक व्यंग्य से कहता है : 'तो फिर देव! घर बनाने की क्या आवश्यकता है ? काल तो सबपर आता है। सबको ले जाता है। विवाह की क्या आवश्यकता है ? राज्य आपका है कहाँ ? पृथ्वी भला किसकी है ? जाने दें सब ! सभ्यगण ! आप यहाँ क्यों बैठे हैं। दया करिये वत्सराज पर। मूर्ख हैं वे। जरा-सी धरती के लिये पाप करते हैं रक्त बहाकर। क्यों लड़ते हैं आप ! वत्सराज से पाप करवाने को ? चलिये घर चलिये।'

परिषद् में हास्य गूँज उठता है।

मैं सुनता हूँ, वे स्पष्ट कह रहे ह :

'सेना की क्या ज़रूरत है ?'

'हम घरों में रहें ! महाराज ही महल में क्यों रहें ?'

'सब समान हैं तो इनकी इतनी इज्जत क्यों की जाये ! यह भी कोई न्याय है ?'

'अरे आने दो शतानीक को। यह क्या उसका राज्य नहीं है ?'

और फिर हास्य। कोई मर्यादा नहीं, कुछ नहीं। सब हँस रहे ह।

बाहर शस्त्रों की खड़खड़ाहट सुनाई दे रही है।

दण्डधर आकर कहता है : 'देव ! एक चर उपस्थित है।'

'ले आओ !' कहता है नंदक।

चर आकर प्रणाम करता है।

'क्या समाचार हैं चर ?'

'श्रेष्ठि ! वत्स की सेना गाँवों में और बढ़-बढ़कर आग लगा रही है।'

'लोक व्ययवहार की बात करिये देव !' जीमूतवाहन कहता है : 'यह आपने सुना ! आपके देश में प्रजा के घर जलाये जाते हैं ? स्त्रियाँ चीत्कार कर रही हैं।'

'हाँ आर्य ! यही मैं सोच रहा हूँ। वत्स के सैनिक अपने घर को नहीं जलाते। कौन-सा भेद पड़ जाता है कि वे दूसरे को इस योग्य समझ लेते हैं, उसे जलाने को भी तैयार हो जाते हैं ?'

'सदा से यही होता आया है महाराज !'

'नहीं आर्य ! जो होता आया है वही क्यों होता रहे ! कोई इतना निर्मम होता है कि अकारण ही अपने पड़ोसी के बच्चे का वध कर दे ! वध करनेवाले को

पहले किसी तरह का नशा करना पड़ता है। वह नशा है मनुष्य का कोई न कोई तकजाल, जो बुद्धि को कुण्ठित कर देता है। जो मनुष्य को यह विश्वास दिला देता है कि बस वही एक मार्ग ठीक है, बाकी सब गलत हैं। यह स्वामिभक्ति जो इतनी महान् वस्तु है, उसके मूल में भी एक गड़बड़ है जो स्वामी के कार्यों पर सेवक को सोचने नहीं देती।'

मेरी बात से लोगों को दुःख हुआ है। यह मैं समझ रहा हूँ, परंतु क्या मैंने कुछ ऐसा कहा है जो अनुचित है ?

'तो देव ! अब आपकी आज्ञा क्या है ?' कहता है जीमूतवाहन : 'आप लोक की व्यवस्था को ही इस प्रकार विच्छिन्न करना चाहते हैं। पूर्वजों ने जो मर्यादाएँ अपने अनेक-अनेक अनुभवों के उपरांत निर्धारित की हैं, क्या आप उन सबको ही उलट देना चाहते हैं ?'

जीमूतवाहन उत्तेजित हो उठा है।

मैं खड़ा हो गया हूँ। और कहता हूँ : 'आर्य जीमूतवाहन ! परंपरा में से हमें वही लेना होगा जो सर्वश्रेष्ठ है। एक समय था जब श्वेतकेतु ने पति-पत्नी की मर्यादा बाँधी थी। तब क्या उसने परिवर्तन नहीं किया था ? गण के क्षत्रिय रक्तशुद्धि के दंभ में भाई-बहन का ब्याह करते हैं, हम क्या उसे अच्छा समझते हैं ?'

सभा स्तब्ध हो गई है। मैं फिर कहता हूँ : 'यह जो ऋषियों के, श्रमणों के, दार्शनिकों के अलग-अलग मार्ग हैं, वे क्या समय-समय पर बदलते नहीं रहे हैं ?'

'किंतु आर्य ! व्यक्ति का परिवर्तन अलग है, परंतु लोक में तो मनुष्य अभी इतना उठा हुआ नहीं है।'

रुद्रवर्मा क्रुद्ध-सा कह उठता है : 'देव ! वे भी इतने उठे हुए नहीं हैं, जो ऊँचे हैं। राजा क्या लोक में है ? दार्शनिक अहिंसा-अहिंसा चिल्लाते हैं, परंतु राजा के लिये अहिंसा हो, यह तो कोई नहीं कहता। राज-पाट छोड़कर जानेवाले क्या राजा नहीं हुए जम्बू द्वीप में ? परंतु उससे लोक का क्या बदला ? देव ! इतिहास-पुराण बताते हैं कि युद्ध शाश्वत है, वे ही वीरा का प्रमाण हैं, और इसीलिये वे बार-बार होते रहे हैं।'

सदस्यों ने स्वीकृति से सिर हिलाया है। यहाँ मानो जीवन की विषमता को

सब स्वीकार करते हैं।

'तो इस चक्र से बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं रुद्रवर्मा ?'

'है देव !'

'क्या है वह ?'

'वन में एकांत तप।'

'मैं अकेला हूँ।' मैं पुकारकर कहता हूँ :'तब मैं आज अकेला हूँ। तप और वन! यह जीवन से भागना है। लोक में इससे परिवर्तन नहीं होगा। तपस्वी इस लोक को ठीक नहीं कर पाता तो यहाँ से भाग जाता है, परंतु यह मैं ठीक नहीं समझता।'

'देव !' रुद्रवर्मा कहता है : 'कहते हैं मिथिला का विदेहराज अश्वल जनक ऐसा दार्शनिक था जिसने कहा था कि मिथिला जल जाये तो मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा, क्योंकि यह मेरा कुछ नहीं है। देव! उसके उत्तराधिकारियों को हटाकर गण-राज्य स्थापित हुआ था।'

परिषद् में फिर सन्नाटा छा गया है।

'हाँ,' मैं कहता हूँ : 'निरंकुश शासन से तंग आकर गण बने थे। आज गण सत्ता पर छा गये हैं, परंतु नये राज्य अमात्यों के साथ उठे, परिषदों के साथ बने। हुआ क्या ? फिर अपने-अपने स्वार्थों के कारण परिषद् समेत राजा निरंकुश बनते जा रहे हैं।'

'देव ! यह दार्शनिकों की सभा नहीं, इस समय युद्ध की बात है।' रुद्रवर्मा झल्ला उठता है।

'मुझे समय दो।' मैं कहता हूँ।

'कैसा समय देव !'

'युद्ध मेरे लिये अवसर है।'

'तो फिर युद्ध ?'

'तुम सेना तैयार कर लो !'

'आप ?'

'मैं भी लड़ूँगा !'

'तो क्या आप नेतृत्व नहीं करेंगे ? आपने सदैव इंद्र की भाँति हमारा नेतृत्व

किया है।'

'मैं ही तुम्हारा नेता बनूँगा सेनापति।'

'तो स्वामी! स्पष्ट कर दीजिये।'

'मैं तुम सबका स्वामित्व करूँगा, अपना सब कुछ दे देने के कारण। परंतु मेरा स्वामी कोई नहीं बनेगा, क्योंकि कोई भी यहाँ देने को तैयार नहीं है।'

'हम प्राण तक दे रहे हैं।'

'प्राण! प्राण दे दोगे! हठ नहीं दोगे!'

'हठ कहाँ है देव! यह तो वीरता है।'

'नहीं रुद्रवर्मा यह अहंकार है, यह भय है, यह संकुचित व्यक्तित्व है।'

'तो क्या अब शत्रु से भीख माँगनी होगी?'

'मैं तुमसे भीख नहीं मँगवाता रुद्रवर्मा। मैं तुम्हें भीख देने योग्य समर्थ मानता हूँ।'

'तो देव! यह बर्बरता चलती रहे? घर जलते रहें, स्त्रियों के साथ बलात्कार होते रहें? यह सब आपके सामने मान्य हैं?'

जीमूतवाहन हठात् चिल्ला उठता है: 'मैं परिषद् का आह्वान करता हूँ। आर्यपट्ट पर परिषद् के चुने हुए वीर बैठें। संकटकाल की अवधि में महाराज से उत्तरदायित्व ले लिया जाये!'

'शतानीक भी मनुष्य है।' मैं हँसकर कहता हूँ: 'आर्य जीमूतवाहन! मैं आर्य-पट्ट पहले ही छोड़ चुका हूँ।'

'महाराज!' स्वामिभक्त रुद्रवर्मा कहता है: 'आर्य जीमूतवाहन पागल हो गये हैं, वे आपको नहीं छोड़ना चाहते।'

'मैं उसके सोये हुए सत्य को जगाऊँगा। उस शतानीक के पशुत्व को हराऊँगा रुद्रवर्मा! आर्य जीमूतवाहन मेरे पूज्य हैं। वे पट्ट पर मुझे न बिठायें, परंतु अङ्ग-देश की सेवा करने से तो नहीं रोक सकते!'

आर्य जीमूतवाहन घुटनों के बल मेरे चरणों पर बैठकर रोता हुआ कहता है: 'महाराज! मुझे दण्ड दें। मैं उत्तेजना में विवेक खो बैठा।'

'आप राष्ट्र के नायक ह आर्य!' मैं कहता हूँ: 'आपको मुझसे अगाध स्नेह

है, तभी मैं आपका सम्मान करता हूँ। परिषद् को अधिकार देने और लेने का पूरा अधिकार है।'

'आप महाराज हैं देव?' जीमूतवाहन कहता है। इस समय सबके मुख पर वेदना दिखाई दे रही है।

'मैं उससे भी पहले मनुष्य हूँ', मैं कहता हूँ: 'आर्य! एक बार मुझे इस मनुष्यत्व की परीक्षा लेने का साहस भी तो दीजिये!'

वृद्ध कहता है: 'महाराज! अङ्ग आपका है। आप कुछ भी करें सदैव स्वामी रहेंगे। परंतु एक आज्ञा दे दीजिये।'

'कहें आर्य!'

'हम युद्ध की तैयारी कर लें? अपना राजनीतिक आयोजन पूरा कर लें?'

मैं नीचे उतर आता हूँ। और कहता हूँ: 'आर्य! आत्मरक्षा का जो मार्ग आप जानते हैं, उसे काम में आप अवश्य लायें, मैं क्या उसमें आपको रोकता हूँ? परंतु मुझे भी न रोका जाये। एक प्रार्थना है। मेरी पत्नी और पुत्री यहीं हैं, इन्हें आप अपने परिवार का समझकर अपना स्नेह देंगे!'

परिषद् में कुछ लोग रो उठते हैं। मैं बाहर की ओर चलता हूँ। धारिणी द्वार पर मिलती है। उत्सुकता और आवेश उसके मुख पर अंकित हैं।

वह कहती है: 'देव! क्या निर्णय हुआ!'

मैं कहता हूँ: 'देवी! वही हुआ जिसकी मुझे आशा थी।'

वसुमति कहती है: 'युद्ध होगा न?'

मैं कहता हूँ: 'देवी! आज समय आया है कि मैं अब युद्ध के लिये जाऊँगा।'

'जायें स्वामी!' धारिणी गर्व से कहती है: 'पुरुष के जीवन का यही तो भाग्य है।'

उसकी आँखों में गर्व भी है और तरलता भी। वह मुझे किस विचित्र दृष्टि से देखती है!

'तुम पुत्री को लेकर प्रासाद में जाओ धारिणी!' मैं कहता हूँ: 'पुरुष एक बलि का बकरा है। यही हमारा संसार है। अकारण ही शांति होने पर स्त्रियाँ कलह करती हैं, और जब संग्राम का समय आता है तब पुरुष हत्याकाण्ड में लग जाता है।'

धारिणी मुझे देखती रहती है।

मैं कहता जाता हूँ : 'लोक में पुरुष और स्त्री की इसी हिंसा-प्रवृत्ति की विवशता को वीरता और गृह-प्रबंध के आडंबर में छिपाया जाता है।'

उसकी आँखों में पानी आ जाता है। मैं कहता हूँ : 'देवी! जब मनुष्य समय रहते नहीं चेत जाता, तो अंतिम बेला में उसे इकट्ठे ही पहले का सब काम करना पड़ता है, और इसीलिये उसे युद्ध आसान लगता है, शांति कठिन।'

धारिणी के नेत्रों में आदर भाव झलक उठता है। वह सम्मानपूर्वक धीरे से झुककर मेरे पाँव छूती है।

मैं फिर कहता हूँ : 'लोक में संयम का अर्थ तपस्वियों के कारण पलायन हो गया है। भाग जाओ, छोड़कर, भाग जाओ। मैं भागूँगा नहीं। संयम का अर्थ घुटना और सड़ना नहीं है, स्वस्थ बहाव है। अपने स्वार्थ की चिंता करना पशुत्व का उत्तराधिकार है। उससे ऊपर उठने की आवश्यकता को देखकर मनुष्य उठ नहीं रहा है।'

इस समुदाय में एक वही है जिसने मुझे समझा है। यह उसके नयनों से स्पष्ट है।

मैं कहता हूँ : 'किंतु उसे उठाना होगा धारिणी! अवश्य उठाना होगा। यदि वह नहीं उठेगा तो वह सदैव ही दुःख पाता रहेगा। उसकी युक्ति का मुझे और कोई पथ दिखाई नहीं दे रहा है। इसीलिये जाता हूँ। तुम्हें कोई वेदना तो नहीं है धारिणी!' इसीलिये जाता हूँ।

वह कहती है : 'जायें स्वामी! आप देवता हैं। कभी भी आपकी महानता का आदर नहीं कर सकी। उसीके लिए सदैव दुःख बना रहेगा। जीवन और मृत्यु का मुझे भय नहीं!'

जीमूतवाहन सिर पर हाथ मारकर कहता है : 'जहाँ स्त्री बुद्धि को इतना प्राधान्य हो; जहाँ, अपराध क्षमा हो, पुरुष स्त्री से मंत्रणा करके पारिवारिक विषयों को राजनीतिक बातों में मिला दे वहाँ और क्या हो सकता है? इन दोनों को मिला देना क्या उचित होगा?'

परिषद् के लोग जो पास खड़े हैं, सुनकर सिर झुका लेते ह।

मैं कहता हूँ : 'आर्य जीमूतवाहन! परिवार और राज्य दो नहीं, एक ही हैं।

इनके दो रूप बने हैं न ? इसीसे यह उलझन है। उसे मिटाने को तैयार होना पड़ेगा।'

'महारानी !' नंदक व्यंग्य से कहता है : 'तैयार हैं न ?'

नंदक की बात से पास खड़े हुए लोग धीरे से मुस्करा उठे हैं। वह मुझपर ही चोट है।

धारिणी कहती है : 'नंदक ! तुम तैयार हो न ?'

यह आकस्मिक प्रश्न सुनकर नंदक गड़बड़ा गया है। वसुमति हँसकर कहती है : 'महाश्रेष्ठि ! मृत्यु तो आती ही है। आ जाये तो डर ही क्या है ?'

वसुमति को देखकर मैं कहता हूँ : 'बेटी ! याद रखेगी न अपनी बात ? मृत्यु जब सामने आती है तो सचमुच बड़ी विकराल हो जाती है।'

'पिता ! माँ तो कहती है कि युद्ध में आपको दोनों फल मिल सकते हैं। जब स्त्रियाँ अपने पति, पुत्र और पिता को मरने के लिए भेज सकती हैं, अपने स्वार्थ के लिये, तो स्त्री को डरना तो नहीं चाहिये न ? हम बैठी रहेंगी और आप हमारे लिये खड्ग चलायेंगे !'

'मैं खड्ग नहीं चलाऊँगा बेटी !' मैं कहता हूँ : 'मैं शत्रु का खड्ग ले लूँगा।'

वह हँसती है।

'सच !' आश्चर्य से पूछती है।

जीमूतवाहन ऐसे देखता है जैसे मानो क्या हो रहा है। परंतु मुझे एक सांत्वना हो रही है कि मुझे कोई तो ठीक समझ रहा है। पूर्ण विश्वास है बिटिया को और संदेह से मान रही है धारिणी ! स्नेह है उसके विश्वास का आधार। वही तो उसे विचलित कर रहा है।

और तब मैं गर्व से सिर उठाता हूँ। और कहता हूँ : 'धारिणी ! अब समय आ गया है। जिस दिन विवाह हुआ था, हम पहली बार मिले थे, तब ऐसे ही सब के बीच में मिले थे और आज जा रहा हूँ, तब भी वैसे ही सबके सामने मिल रहे हैं न !'

धारिणी कहती है : 'स्वामी ! उस दिन सबकुछ आपको ही समझकर संग आई थी, अब भी आऊँगी।'

उसकी आँखों के आँसू गालों पर बह आये हैं। वसुमति कहती है : 'रोओ

नहीं माँ !'

जहाँ अङ्गराज्य की राजधानी की सीमा थी आज वहाँ वत्सराज शतानीक सेना सहित उपस्थित है। वह अधिक समय नष्ट न करके खुले मैदान में सारी शक्ति लगाकर बढ़ आया है और ग्राम प्रांतों के अधिक भाग को उसने युद्ध के बाद लूटने के लिये छोड़ दिया है । नगर विक्षुब्ध है। घर-घर युद्ध के लिये जैसे तैयार हैं। सेना तत्पर है। सब कुछ तैयार है। घरों पर स्त्रियाँ पत्थर रखे बच्चों के साथ बैठी हैं। कहीं तेल के कढ़ाव उबल रहे हैं। कहीं छप्पर रखे हैं कि ठीक समय पर आग लगाकर उन्हें नीचे फेंक दिया जाये। शतानीक का हाथी और उसका सेनादल तत्पर खड़ा है।

मैं उसे देखता हूँ। मुझे देखकर सबने अपनी ओर से जयजयकार किया है। उसका उत्तर आया है वत्स की सेना से––महाराजाधिराज वत्सराज की जय !

दोनों ओर से होनेवाले जयजयकार से योद्धा स्फुरित होने लगे हैं। और घोष बढ़ चला है।

मैं घोड़े पर चढ़ता हूँ और आगे बढ़ता हूँ।

रुद्रवर्मा साथ चलता है। उसके साथ सेना की एक टुकड़ी बढ़ती है।

'कहाँ रुद्रवर्मा !' मैं पूछता हूँ।

'देव ! आपके साथ !'

'क्यों ?'

'देव ! क्या शत्रुओं के बीच अकेले जायेंगे ?' वह आश्चर्य से पूछता है।

'मैं अकेला जाऊँगा रुद्रवर्मा। मेरे साथ कोई नहीं चलेगा।'

'क्या कहते हैं देव !'

'आज अङ्गराज्य का शासन तुम्हारे और परिषद् के हाथ में है। ऐसे समय में मैं स्वतंत्र हो गया हूँ। अब अङ्ग का मुझपर और मेरा अङ्ग पर कोई अधिकार नहीं है। यदि मैं अङ्ग की रक्षा करके विजयी होता हूँ तो सब कुछ मेरा होगा। यदि ऐसा नहीं होता तो अङ्ग अपनी सारी शक्ति लगाकर अपनी रक्षा करे। परिषद् ने मेरी इच्छा के विरुद्ध मागध बिंबसार की सहायता बुलाई है। मागध सीमा पर आ गये हैं। अवश्य तुम्हें डरने की आवश्यकता नहीं है।'

सेना पीछे रुक गई है।

मैं सीमा पर खड़ा हो गया हूँ।

यह भूमि वही भूमि है जिस पर न जाने कितने व्यक्ति पहले भी अपना अधिकार जता चुके होंगे। और आज भी इसके पीछे मनुष्य लड़ रहा है!

मुझे यह सोचकर हँसी आती है। मैं घोड़े से उतर पड़ता हूँ और हाथ उठाकर पुकारता हूँ: 'शतानीक! तुम आ गये हो। मैं आया हूँ तुम्हारा स्वागत करने। आओ शतानीक! मैं हूँ दधिवाहन!'

शतानीक हाथी पर है। उसपर सोने की झूल पड़ी है और ऊपर सुवर्णमण्डित हौदा है, जिसपर छत्र लगा हुआ है। अपने अस्त्रधारियों के साथ उसपर शतानीक कवच पहने बैठा है इस समय। पीलुक (फ़ीलवान) ने कुछ मुड़कर कहा है। मैं वहीं खड़ा रहता हूँ।

मुझे देख हाथी आगे लाया जाता है।

अब उसके अश्वारोही और रथ धीरे-धीरे दाँये-बाँये सुसज्जित-से आकर मेरे सामने खड़े हो गये ह्। मेरी सेना दूर पीछे दिखाई दे रही है। परंतु मैं अकेला हूँ। और मेरा यह व्यवहार देखकर, न केवल मेरी सेना के लोग वरन् मेरे शत्रु भी चकित हैं।

शतानीक जब मुझसे पंद्रह या बीस हाथ रह जाता है, मैं कहता हूँ: 'वत्सराज शतानीक! तुम अङ्गराज्य में आये हो। इसलिये मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। मैं तुम्हारा स्वागत मधुपर्क मे भी कर सकता हूँ, परंतु तुमने उसे ठुकराकर कहा है कि तुम खड्ग से स्वागत चाहते हो!'

शतानीक कहता है: 'स्वयं दधिवाहन को आना पड़ा?'

मैं कहता हूँ: 'आओ शतानीक! तुम भी तो सोचो कि कितनी दूर से तुम लुक-छिपकर आये हो! मैं जानता हूँ कि तुम बहुत भयभीत हो। तुम्हारा मन भीतर ही भीतर शंकित हो रहा है कि कहीं पीछे से अवन्तिराजा और कोसलराजा ने वत्स को बाँटा न हो। मगध राजा की भी शंका तुमको कम नहीं, फिर शाक्यगण, वज्जिय संघ की सेनाओं का भी तुम्हें कम आतंक नहीं। इतना भय लेकर जो तुम आये हो अङ्गराज्य को कुचल डालने के लिये, और उसे वीरता कहते हो, उस वीरता

को मैं बहुत बड़ा भय मानता हूँ। यह भय तुमने अपने स्वार्थ और अहंकार से प्राप्त किया है।'

शतानीक स्वर उठाकर कहता है: 'दधिवाहन! मैं भय से नहीं आया! मैं आतंकित होकर नहीं आया!'

'किसलिये आये हो शतानीक!' मैं पूछता हूँ।

'युद्ध के लिये!'

'कारण!'

'वत्स की पुरानी पराजय का बदला लेने।'

'वत्स की पराजय!' मैं हँसकर कहता हूँ: 'वह क्या इस विजय से मिट जायेगी शतानीक! इस बार भी जीतोगे यही क्या निश्चय है! और जीतने पर भी तो यही कहा जायेगा कि वत्स को अङ्ग ने पहले हराया था।'

'दधिवाहन! क्षत्रिय की भाँति सामने आओ। मैं यह तर्कजाल नहीं चाहता। तुम अपनी कायरता को इस प्रकार नहीं छिपा सकते।'

'मैं कायर हूँ शतानीक? तभी तो तुम्हारी इस सेना के बीच में अकेला आया हूँ। लेकिन सब इसके विरुद्ध थे। फिर भी मैं जानता था कि शतानीक, जो विजय की लिप्सा में डूब गया है, अभी तक मनुष्य ही है। इसीलिये मैं अकेला आ गया, क्योंकि क्षत्रिय ही वह सूरमा होता है जो मृत्यु से नहीं डरता, क्योंकि वह दूसरों को बचाता है। क्षत्र का अर्थ तो रक्षा करना है और इसीलिये क्षत्रिय को वर्णों में इतना श्रेष्ठ माना गया है! कायरता तो यह है कि तुम इतने दिन तक छिप-छिपकर निरीह और निरपराध ग्रामीणों को लूटते रहे। उसमें कौन-सी वीरता थी शतानीक! कहते हैं प्राचीनकाल में धर्मयुद्ध होते थे, तब सेनाएँ लड़ती थीं, प्रजा को नहीं सताया जाता था। यह सत्य है या केवल कल्पना, यह मैं नहीं जानता; परंतु यदि यह कल्पना ही है तब भी शोभनीय है। बता सकते हो उसमें क्या वीरता है? इस लूट का कारण क्या है?'

'कारण यही है कि मैं सबको एक करना चाहता हूँ; वत्स और अङ्ग को एक! एक करना चाहता हूँ।'

'वत्स और अङ्ग क्यों शतानीक! बिल्कुल पड़ोस के अवन्ति, मगध और

कोसल को पहले एक कर लेते। और अगर अङ्ग पर ही इतना प्रेम था, तो क्या तुमने कभी अङ्ग की राजसत्ता से कुछ पहले कहा कि तुम्हारा उद्देश्य क्या था ? एकता तो बहुत श्रेष्ठ वस्तु है शतानीक ! परंतु उस एकता का अर्थ क्या है ?'

'दो राज्यों का एक होना।'

'तो शतानीक ! एक घर में जब कई भाई रहते हैं तब क्या वे एक दूसरे को अपमानित करके अपने अधिकारों को परस्पर बाँटते हैं ? क्या वे एक दूसरे के दास बनकर रहते ह ?'

'किंतु बड़े का तो छोटे पर अधिकार चलता ही है।'

'ठीक है। किंतु क्या छोटा अपने ज्येष्ठ भ्राता के पराक्रम के कारण उससे दबकर रहता है ?'

'नहीं, वह परंपरा के कारण होता है।'

'तो स्नेह का तुम्हारे सामने कोई मूल्य नहीं ? तुमने क्या अङ्गराज्य को अपना अभिमत पहुँचाया था ?'

'स्वार्थ के कारण क्या तुम स्वीकार करते दधिवाहन ! व्यर्थ वितंडा करके अपनी भीरुता छिपाने का यत्न मत करो। यह मत समझो कि तुम्हारे तर्कजाल से मेरी सेना में फूट पड़ जायेगी। प्राचीन आर्य परंपरा के कारण मैंने अभी तक तुम्हें बोलने की आज्ञा दे दी है, यह न समझो कि मेरी वीरवाहिनी अपना इरादा बदल देगी। वह अङ्गराज्य को अहंकार का बदला चुकाने का न्यायकार्य करने आई है।'

मैं हँसता हूँ। कहता हूँ : 'उल्टी बात कहते हो शतनीक ! यह न समझो कि न्याय अब बल के द्वारा तुम्हारा हो जायेगा। न्याय अहिंसा की ओर रहेगा।'

'अहिंसा साधुओं का धर्म है।'

'साधु धर्म को ही लोक क्यों न अपना ले।'

शतानीक कहता है : 'तो फिर निर्णय कैसे हो दधिवाहन !'

'निर्णय तो हो चुका शतानीक !'

शतानीक समझता नहीं। वह कहता है : 'हो चुका ? कब हो चुका ?' वह हँसता है।

'हाँ', मैं कहता हूँ : 'हो चुका ! तुम हार गये हो। हारा हुआ व्यक्ति ही पशु-

बल का प्रयोग करता है। तुम अङ्ग को मिलाकर साम्राज्य बनाओ। निर्णय किससे होगा ? साम्राज्य से ? उसके बाद तुम्हारी तृष्णा कहाँ जायेगी ? औरों से टकरायेगी। छोटे-छोटे राज्य मिटाकर तुम विशाल साम्राज्य बनाना चाहते हो ! यही है न तुम्हारे धर्म का छद्म ! परंतु किसलिये ? अपने अहं की तुष्टि करने को ! आज तुम्हारी सेना लूट के लिये खड़ी है। और खड्ग से सब कुछ जीतना चाहती है। परंतु कल जब अङ्ग की प्रजा तुम्हारी प्रजा हो जायेगी, तब तुम्हें शांतिकालीन प्रबंध करना होगा। इतना विशाल साम्राज्य तुम सँभाल सकोगे ? लोक में बलप्रयोग से न आजतक कभी शांति स्थापित हुई है, न कभी होगी। याद रखो कि जबतक खड्ग का प्रयोग होता रहेगा, तबतक घृणा इस पृथ्वी पर जीवित बनी रहेगी। जिसमें निरीह प्रजा की हत्या होगी, उसमें कभी विश्वास अपनी जड़ नहीं जमा सकेगा।'

'जीवन का यह दार्शनिक रूप लोक के व्यवहार के अनुकूल नहीं है दधिवाहन! जानते हो ? राष्ट्रों में विभिन्न आचार हैं। परस्पर घृणा है। किंतु क्यों ? क्योंकि हम सब एक दूसरे से अलग-अलग पड़े हैं। जानते हो न कि पारसीक देश का राजा कुरू अभी गांधार और काम्बोज में लूटकर लौट गया है।'

'और नष्ट भी हो चुका है।' मैं कहता हूँ: 'सुदूर चंपा में बैठकर भी मैं उसके विषय में सुन चुका हूँ। परंतु एकता के लिये क्या तुम अङ्ग को अपना स्वामित्व नहीं दे सकते वत्सराज ! धोखा दूसरों को देना उतना बुरा नहीं, जितना अपने आपको छलना है शतानीक !'

'यह कायरों की बात है दधिवाहन ! राजा प्रतीक है, व्यक्ति नहीं। यदि वत्स समर्पण करे तो किसके सामने ! वह बीच का देश है। अवंति, कोसल और मगध के बीच में कौन है ? वत्स ! अङ्ग तो एक छोटा-सा राज्य है। यदि यह राज्य एक न होंगे तो इन गणों का अनाचार कैसे मिटाया जा सकेगा, जहाँ दासों के रूप में इन दुराभिमानी शासकों का दंभ पल रहा है। बिंबसार अपनी अंबपाली के कारण वज्जियों से मिल गया है दधिवाहन ! उसने लोक की मर्यादा को अपने सामने नहीं रखा। लोक निंदित कर्मों में ग्रस्त है। क्यों ? क्योंकि आर्यों का प्राचीन मार्ग उसने छोड़ दिया है। इसीलिये आज धर्म की स्थापना की ही आवश्यकता है !'

'और उसीके लिये तो तुम जंगलों के रास्ते से छिपकर आये हो और तुमने ग्रामीणों को लूटा है। तुम समझते हो कि तुम्हारा यह छल लोग समझ नहीं रहे हैं ! याद रखो ! यह एक राष्ट्र की ओर जाना नहीं है। यह है अश्वमेध की वर्बर परंपरा। यह लोभ है शतानीक ! हिंसा ही इसका आधार है। मनु से लेकर अब तक सहस्रों राजा हो चुके हैं, मर चुके हैं। युद्ध और हिंसा से यह पृथ्वी आक्रांत रही है। किंतु मनुष्य को मिल क्या सका है अभी तक ? क्षत्रिय धर्म क्रूर कार्य है। वीरस्वर्ग प्राप्त करने की अहम्मन्यता से अनेक हत्याएँ हुई हैं। तुम वीर हो। और भी ऊँचे उठो। अपने लिये तो सभी रहते हैं। एक वार अपनी सीमा से निकलकर देखो कि दूसरों के लिये जीना कितना कठिन है। और तभी तुम समझोगे कि इस मार्ग में अहंकार ही हिंसा को जन्म देता है।'

शतानीक गरज उठता है : 'हिंसा ! हिंसा की बात करते हो दधिवाहन ! लोक का जीवन परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है। प्राणी प्राणी पर निर्भर करता है।'

'ठीक है, परंतु मनुष्यत्व इसीमें है कि उस निर्भरता को अधिक से अधिक उदात्त बनाते चले जायें।'

'किंतु उसका मानदण्ड क्या है दधिवाहन ! अपने-अपने में केन्द्रित होकर ही तो उसको अपने-अपने स्वार्थ नियंत्रित करेंगे ?'

'नहीं शतानीक ! वह पुराना ढंग था !'

'और नया ढंग क्या कायरता ही नहीं है ?'

'हाँ,' मैं कहता हूँ : 'देखो ! जिसे तुम वीरता कहते हो वह दूसरे के विनाश पर खड़ी होती है। वीरता वास्तव में वह है जिससे दूसरे का निर्माण हो !'

'काल सबका क्षय कर रहा है दधिवाहन ! तुम क्या काल का चक्र भी उलट सकते हो ?'

मनुष्य 'काल को विजय करता है अपने उदात्त औदार्य से। काल इसीसे उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाता, जो धर्म के पथ पर चलते हैं। इसीलिये लोक में आज तक मनीषियों ने जीवन में काम, अर्थ और मोक्ष का महत्व स्वीकार करके भी, सबसे ऊँचा स्थान धर्म को दिया है।'

'और धर्म क्या है अङ्गराज ! बता सकते हो ? क्या यह बहुकृत्य जीवन अपने अनेक धर्म नहीं रखता ?'

'रखता है वत्सराज ! धर्म रूप बदलता है । और प्रत्येक व्यक्ति एक धर्म का पालन करता है । परंतु मूलतः यह सब कच्चापन जाकर पकता कहाँ है ? लोक में। धर्म है वास्तव में लोकधर्म।'

शतानीक अट्टहास कर उठता है और कहता है : 'लोक का धर्म क्या है दधिवाहन ?'

'वही है वत्सराज ! जो अनेक व्यक्तियों के धर्म का इस प्रकार संगठित करता है, कि उससे लोक के लिये एक कल्याणकारी नियमन बनता है । उस अवस्था में किसीका भी धर्म दूसरे पर आक्रमण नहीं करता और अधिकार की जगह लेता है कर्तव्य ! युद्ध की जगह लेती है शांति !'

सेना भी हँसती है।

गोधूम कहता है : 'देव ! आप युद्ध से इतना डरते हैं ? वीर तो शक्ति की परीक्षा करते ही रहते हैं ।'

'करते हैं गोधूम ! तभी तो आया हूँ।'

'यह क्या वीरता है ?'

'तो क्या वीरता हत्या में ही है ?'

'हत्या ! हत्या में दूसरा निःशस्त्र रहता है, दूसरा निर्बल रहता है, वह समर्पण करता है फिर भी आततायी उसपर दया नहीं करता।'

मेरी सेना दूर खड़ी है।

मैं देखता हूँ। घोड़े पर एक व्यक्ति तेजी से दौड़ा आता है और सेनाध्यक्ष रुद्रवर्मा से मिलता है । पता नहीं वे क्या बातें करते हैं कि एक टुकड़ी अलग होकर उस आने वाले के साथ पीछे की ओर चली जाती है और एक हुंकार सुनाई देती है।

गोधूम पुकारता है : 'अङ्ग की सेना कुछ चाल खेल रही है।'

सैनिक बातें करने लगते हैं ।

'वह देखो ! वह एक और अश्वारोही आया !'

'लो देखो ! वह भी चला गया।'

'इस मुट्ठीभर सेना को हम यों ही कुचल देंगे दधिवाहन !' शतानीक दर्प से कहता है : 'अङ्ग की सेना अब कितनी भी चाल क्यों न कर ले, किंतु वह बच नहीं सकती। तुम अकेले आये हो, इसलिये प्राचीन परंपरा के अनुरूप मैंने तुम्हें राजा का-सा सम्मान दिया है। परंतु अब तुम लौट जाओ। तुम्हारा दूतत्व समाप्त हो चुका। अब युद्ध के लिये तैयार होकर आओ।'

'किंतु उसका अंत क्या होगा शतानीक।'

'जीत या हार!'

'किसकी जीत ? किसकी हार ?'

'किसी एक की भी। इसकी मुझे चिंता नहीं।'

'परंतु मुझे खेद है कि यह तो दोनों की ही हार हो जायेगी।'

विशाल साम्राज्य का स्वप्न देखने वाला शतानीक सहसा ही चौंक उठता है। पूछता है : 'दोनों की हार ?'

'हाँ वत्सराज ! जब हम दोनों ओर से मनुष्यत्व छोड़कर पशुओं की भाँति लड़ेंगे तब हमारी हार ही तो होगी। वत्स की सेना समझेगी कि अङ्ग से उसे पुराने अपमान का बदला लेना है जबकि यह बहाना उसने लिया है अङ्ग को लूटने के लिये। और फिर अङ्ग की सेना समझेगी कि उसे अपनी रक्षा करनी है और वह यह बहाना धारण करती है कि उसको अपने धर्म, धन और घरों को बचाना है। जब दोनों टकरायेंगे तो उस समय मनुष्यत्व शेष नहीं रहेगा। वत्स जीतेगा तो उसे अहंकार शांति नहीं लेने देगा। और यदि अङ्ग जीतेगा तो वह वत्स से बदला लेगा। उस समय अङ्ग अत्याचारी बन जायेगा और वत्स मनुष्यत्व की बात करेगा। इसीलिये मैं तुम्हें सावधान करता हूँ कि जिसे तुम इतना महान और महत्वपूर्ण कार्य समझ रहे हो, वह वस्तुतः एक बर्बरतामात्र है। उससे किसीको भी लाभ नहीं हो सकता। स्वयं तुम्हें ही युद्ध से शांति नहीं मिल सकती। क्योंकि विजय के बाद तुम्हें शांति की आवश्यकता पड़ेगी और तुम उसे दमन से लागू करोगे, जो विद्रोह को जन्म देगी और विद्रोह से फिर हत्या का नया दौर शुरू हो जायेगा। तुम मेरी बात को कायरता समझते हो और न्याय यह देते हो कि सदा से यही होता चला आ रहा

है, परंतु क्या यही तुम्हारे विवेक का उत्तर है ? शतानीक मुझे उत्तर दो !'

'मेरा उत्तर मेरा खड्ग है दधिवाहन ! बहुत हो चुका। एक बार खड्ग से मुझसे परास्त होकर या तो स्वर्ग जाओ या स्वर्ग मुझे भेज दो।'

'स्वर्ग भी प्राप्ति की कामना का स्थल है शतानीक ! उससे भी ऊपर उठकर मुक्ति की कामना करो !'

'मुक्ति !' शतानीक हँसता है : 'आज मैं तुम्हें मुक्त ही करने आया हूँ दधिवाहन !'

'तो उतरो शतानीक ! हम-तुम ही इस द्वन्द्व का फैसला कर लें। तुम और मैं। यह सारी वैतनिक सेनाएँ हमारी-तुम्हारी रणलिप्साओं का आहार हैं। इन्हें चराया गया है अपनी तृष्णा के लिये कटवा देने को। सेना धर्म की स्थापना के लिये मनु द्वारा बनाई गई थी, क्षत्रियों का पराक्रम दिखाने के लिये। तुम वीर हो तो आओ। मैं तुमसे युद्ध करूँगा। जो जीतेगा उसीका शासन पराजित के राज्य पर होगा।'

वत्स का सेनाध्यक्ष गोधूम घोड़ा बढ़ाता है और शतानीक के हाथी के पास जाकर खड़ा होकर शायद कुछ कहता है। वह इतनी धीमी आवाज़ में कहता है कि मैं नहीं सुन पाता।

शतानीक सिर हिलाता है जैसे, नहीं।

गोधूम फिर कुछ कहता है जिसे शतानीक ने सुनकर मानो स्वीकार कर लिया है। तब गोधूम घोड़ा कुछ आगे बढ़ाता है और चिल्लाता है : 'यह झूठ है देव ! महाराज दधिवाहन यदि शांति का समाचार लेकर आये हैं तो इनके हाथ में खड्ग क्यों है ?'

'खड्ग !' मैं कहता हूँ : 'गोधूम ! यह खड्ग किसलिये है, वह तुम्हारी समझ में अभी आ जायेगा। मैं तुम्हें सिखाउँगा कि वीरता क्या है ?'

गोधूम कहता है : 'शांति की बात करते हैं आप महाराज ! खड्ग लेकर।'

मैं कहता हूँ : 'वचन दो शतानीक ! आज मुझसे द्वन्द्वयुद्ध करोगे ! मेरा-तुम्हारा युद्ध होगा। मैं रहूँ या तुम। लोक को इससे कोई हानि-लाभ नहीं होगा। दोनों को ही शासन करना है। अङ्ग तुम ले सकते हो, तुम इसपर अपना अधिकार कर सकते हो। लोक में इससे कोई परिवर्तन नहीं होगा। राजा होना भाग्य की

बात है, कोई महान कार्य नहीं है। अच्छा राजा होना कठिन है। तुम अङ्ग चाहते हो तो ले लो शतानीक ! परंतु प्रजा के लोहू की एक भी बूंद मत गिराओ ! वचन दो कि अङ्ग की प्रजा लुटेगी नहीं। अङ्ग की नारी का गौरव अखंड रहेगा। सँभालो प्रजा को। न्याय से शासन करो। परंतु इसका विश्वास दो, क्योंकि द्वन्द्वयुद्ध करने में तुम कायरता दिखा रहे हो।'

वत्स की सेना गरजती है : 'तर्क छोड़िये महाराज ! यह अङ्ग का छल है। वह देखिये पीछे अङ्ग की सेना तैयार खड़ी है।'

'यह भी शांति का स्वर है ?' शतानीक पूछता है।

मैं मुड़कर देखता हूँ। अब सेना ने शस्त्र उठा लिये हैं।

'शतानीक !' मैं चिल्लाता हूँ : 'अब भी उतर आओ !'

पीछे मैं सुनता हूँ तूर्यनिनाद हो रहा है।

'यह क्या है ?' शतानीक हँसकर कहता है : 'दधिवाहन ! मैं तुम्हारे नये प्रकार के छल को मानता हूँ।'

'यह छल नहीं है।' मैं कहता हूँ :'जैसे तुम नहीं समझते वे भी नहीं समझते।'

'नहीं, नहीं···' पीछे से आवाजें आ रही हैं।

स्पष्ट सुनाई दे रहा है :

'दधिवाहन का नाश हो···

'दधिवाहन कायर है···

शतानीक गोधूम की ओर देखता है और कहता है : 'सेनापति !'

'आज्ञा देव !' गोधूम उत्तर देता है।

'विद्रोह हो गया है।'

मैं हाथ उठाकर कहता हूँ : 'शतानीक ! बोलो ! वह विद्रोह व्यर्थ है। उसकी चिंता मत करो।'

'विद्रोह !' शतानीक कहता है : 'तुम्हारी पीठ पर हो रहा है। तुम जो चाहते हो उसका अनुमोदन कौन कर रहा है ?'

'तुम्हारी प्रजा तुम्हारी नहीं है,' गोधूम हँसकर कहता है : 'महाराज ! पहले अपने को सँभालो ! तुम्हारी बात कौन मानेगा ?'

'शतानीक !' मैं कहता हूँ : 'समर्थ शतानीक मानेंगे। यह कार्य वीरों का नहीं। वे जो चिल्ला रहे हैं, डर गये हैं। वे मनुष्य को शस्त्रों से ऊपर नहीं देख पा रहे हैं।'

'मैं वचन नहीं दे सकता।' शतानीक कहता है।

उसकी सेना में अब तूर्य बजने लगा है।

'हट जाओ!' शतानीक पुकारता है : 'यदि तुम अङ्ग के राजा नहीं हो तो मुझे तुमसे कुछ नहीं कहना है दधिवाहन!'

पीछे का कोलाहल बढ़ गया है। लगता है शस्त्र बज रहे हैं। मैं मुड़कर देखता हूँ। जो सेना की टुकड़ी मैं छोड़कर आया था वहीं खड़ी है।

मैं कहता हूँ : 'फिर सोचकर देखो शतानीक! अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। जिसे तुम विक्रम कहते हो वह तो कायरता है। शस्त्र धारण करके किसीको मारना क्या कोई वीरता है? वीरता है शस्त्र को फेंककर मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहचानना। उसीसे मनुष्य की दिग्विजय प्रारंभ होगी! देखो! यही है न सीमा? यही है मेरे और तुम्हारे राज्य की सीमा? इस सीमा ने मनुष्यों को बाँट दिया है, परंतु मनुष्य फिर भी एक हैं। समस्त प्राणी एक हैं। यह कहना भूल है कि उनमें अलग-अलग प्रकार की आत्माएँ हैं। मनुष्य को दो सत्य नहीं, एक ही सत्य को स्वीकार करना होगा। यह सीमा क्यों है? भय के कारण। इस सीमा से पृथ्वी नहीं बँट जाती, लोक नहीं बँट जाता। बँटता है शासक का अहंकार। इस सीमा पर फैलने के लिये क्षत्रिय अपनी हिंसा को न्याय कहता है। शतानीक! इस सीमा को एक कर दो। समझ लो कि अङ्ग और वत्स आज से एक हो गये। हम-तुम शत्रु नहीं, एक ही कुटुंब के निवासी हैं। यह वसुधा एक विशाल कुटुम्ब है। इसमें जो अनार्य हैं, उन्हें हम सुंदर बनायेंगे। मेरे और तेरे के भेद के कारण जो घृणा हमारे-तुम्हारे बीच में आ गई है, इसको सदा के लिये मिटा देंगे। प्रलय तक लोग याद करेंगे कि एक दिन कुरुकुल गौरव शतानीक ने दिग्विजय की लोलुप तृष्णा को छोड़कर लोक के कल्याण के लिये धर्म का पथ अपनाया था। राजन्! बहुत कठिन है आततायी के सामने निर्भीक होकर खड़ा रहना, पर उससे भी कठिन है आततायी का अपने मार्ग के अनौचित्य को समझकर उसका निराकरण करना। यावत्चंद्र दिवाकर तुम्हें सत्य-

वादी हरिश्चंद्र की भाँति याद रखा जायेगा।'

'तुम डर रहे हो!' शतानीक कहता है।

मैं हँसकर कहता हूँ: 'शतानीक! मैं डरता नहीं हूँ! देखो! मनुष्य किससे डरता है? अपने प्राणों के लिये, वह सबसे डरता है। जिस दिन मनुष्य समझ लेगा कि मृत्यु मनुष्य की पराजय नहीं, पराजय है उसका मृत्यु से डरना, उसी दिन वह दूसरों को अपना खड्ग उठाकर मारना बंद कर देगा। तुम मुझे कायर समझते हो! क्या तुम समझते हो कि यह खड्ग मैं तुमपर चलाने लाया था!! उसके लिये तो मैं सेना लेकर औरों की तरह तुमसे लड़ता। मैं लाया था तुम्हारी रक्त की प्यास मिटाने, इस सीमा के लोभ को मिटाने; जिसने तुम्हें पागल कर दिया है।' यह कहकर मैं खड्ग अपने पेट में घुसेड़ लेता हूँ। रक्त बह निकलता है और मैं लोहू से धरती को लीपकर कहता हूँ: 'यह देखो सीमा मिट गई। अब देखो। मनुष्य का अंत क्या है। कुछ ही देर में मैं राजा नहीं रहूँगा और मुझे चील-कौए खा जायेंगे···इतना ही है मनुष्य का जीवन···इसीके लिये है इतना झूठा अहंकार···

गोधूम विस्मित-सा घोड़ा पीछे हटा ले जाता है और सेना शांत हो गई है।

शतानीक विक्षुब्ध-सा देख रहा है···

फिर वह जैसे व्याकुल हो उठा है। भर्राये स्वर से पुकारता है: 'दधिवाहन!'

मैं धरती पर पड़ा-पड़ा मुस्कराता हूँ। कोलाहल सुनाई पड़ता है। मैं मुड़ता हूँ। मैं देखता हूँ कि मेरे पीछे की तरफ से वाणों की बौछार आई है, शतानीक चिल्लाता है: 'अङ्गराज की सेना ने आक्रमण प्रारंभ कर दिया!'

गोधूम चिल्लाता है: 'धनुर्द्धर! सावधान!'

मैं पड़ा-पड़ा देख रहा हूँ। धनुष धरती पर टिके हैं और योद्धा पंक्ति बनाकर घुटने टेक कर बैठ गये हैं। उन्होंने धनुष चढ़ा लिये हैं। फिर मैं देखता हूँ कि सेना हिल उठी है।

मैं काँपते कण्ठ से शक्ति एकत्र करके कहता हूँ: 'शतानीक! वे डर रहे हैं।'

शतानीक जैसे सुनता है पर सुन नहीं पा रहा है। एक बार मुझे देखकर उसकी आँखें कुछ चमत्कृत-सी हो गई हैं। मुझे नहीं पता वह मेरी सेना की ओर क्या देख रहा है जहाँ अब काफ़ी कोलाहल हो रहा है।

और तब शतानीक का हाथी मेरे पास आ जाता है।

'एक दिन यह सीमा नहीं रहेगी शतानीक !' मैं क्षीणस्वर से कहता हूँ : 'यह सीमा नहीं रहेगी।'

पर कोलाहल बहुत बढ़ गया है। शतानीक का ध्यान उधर ही है। धनुर्द्धर तैयार बैठे हैं। कभी-कभी कोई सैनिक ललकारता है और फिर वे सब गिद्धों की तरह ललकते हुए देखने लगते हैं।

'एक दिन यह न्याय जिसके द्वारा हत्या आज धर्म बन गई है वह न्याय ही अन्याय कहलायेगा·····' मेरा स्वर बहुत मंद पड़ गया है। मैंने धरती पर सिर रख दिया है। बहुत क्षीण हो गया है मेरा बल।

तभी कोलाहल सुनाई देता है—महाराधिराज बिंबसार की जय !

मैं चौंककर हाथों के बल, एक घुटना मोड़कर बैठ जाता हूँ। यह मैं क्या सुन रहा हूँ !

शतानीक हाथी के हौदे में खड़ा हो गया है।

गोधूम चिल्लाकर कहता है : 'बिंबसार ! मगध ! मागध सेना ! अङ्गराज्य ने धोखा दिया ! तभी दधिवाहन अकेला आ गया। महाराज ! अङ्ग अब मगध का हो गया।'

शतानीक मुझे देखता है और चिल्लाता है : 'धोखा !' उसका स्वर उठ रहा है : 'यह धोखा है !'

मैं कहता हूँ : 'वत्सराज ! बिंबसार इस धोखे का बदला चुकायेगा। वह जिस पर विश्वास करेगा वही उसे धोखा देगा। यदि धर्म सत्य है तो जिस राज्य के लिये उसने ऐसा पाप किया है, वह राज्य ही उसके लिये अभिशाप बन जायेगा···

मैं और कहना चाहता हूँ, परंतु अब मैं हाँफ रहा हूँ··· कह नहीं··· पा रहा हूँ···

गोधूम पुकारता है : 'सेनानायको ! सेना को वनप्रांत में हटा लो। मगध भूमि को अपने पीछे रखकर हम उसकी सेना से नहीं जीत सकते।'

शतानीक चिल्लाता है : 'मूर्ख ! देख तेरी चंपा को मगध निगल गया !'

रोष से उसका गला रुँध रहा है। वह ग्लानि से जैसे उस समय विह्वल हो

रहा है।

मैं कहता हूँ : 'शतानीक !'

वह सुन नहीं सका है। अब वह हाथी पर से उतर रहा है और मेरे पास आ गया है।

मैं सुनता हूँ। वह कहता है : 'दधिवाहन ! मगध अङ्ग को निगल गया !'

मैं देखता हूँ और धीरे से कहता हूँ : 'शतानीक ! तुम वीर हो ! तुमने मनुष्यत्व की पुकार सुनी। तुम अपने लोभ से निरंतर लड़ते रहे। मेरा अभिवादन स्वीकार करो।'

शतानीक की आँखों में पानी आ गया है। उसने मुझे सहारा दिया है।

मेरा गला सूख रहा है। शतानीक पुकारता है : 'पानी.... पानी लाओ....

एक सैनिक पानी देता है। वह मुझे पिलाता है। मैं गट-गट पीता हूँ। परंतु पानी पेट में से रक्त के साथ बाहर निकल आया है। मैं तड़पने लगा हूँ।

शतानीक कहता है : 'तू जीत गया दधिवाहन ! तू महान है। तूने मेरी आँखें खोल दीं। मैं हूँ वह लोभी जिसके कारण अङ्गदेश मगध के हाथ चला गया। पर यह कैसे हुआ ?'

मैं उसे देख रहा हूँ। वह धुँधला होता जा रहा है। मैं हाथ बढ़ाकर उसका हाथ पकड़ लेता हूँ। शतानीक फिर कहता है : 'दधिवाहन ! तू मेरा भाई है....

मैं मुस्कराता हूँ और मेरे कानों में उसके शब्द आते हैं.... ऐसा लगा है जैसे वह कहते-कहते दूर होता चला जा रहा है : 'दधिवाहन.... सीमा मिट गई..... इस लोहू में युगांत तक धर्म बोलता रहेगा......

और शब्द दूर होते चले जा रहे हैं.... दूर होते चले जा रहे हैं...

मुझे कुछ भी नहीं दिखता... मैं कहाँ हूँ.... मैं कहाँ हूँ.....

४.

स्वस्तिश्री योग्य लिखा श्रेष्ठि धनवाह, कोसांबी निवासी का ताम्रलिप्ति निवासी श्रेष्ठि मणिपूरक दास को प्रणाम निवेदित हो। आगे हाल यह है कि जब मैं तुम्हारे पास से लौटा तब मेरी मनोवांछा क्या थी, यह तो तुमको विदित ही था। उस समय मेरे मन में एक अजीब तरह की सुलगन थी। ताम्रलिप्ति के बंदरगाह पर खड़े होकर हमने कितनी बातें की थीं! ऐसा लगता था जैसे सारा संसार वहीं इकट्ठा हो गया था। यवद्वीप से लेकर ताम्रपर्णी (लंका) और सुदूर मिस्र जैसे म्लेच्छ देश तक के वोहित (जहाज) वहाँ इकट्ठे थे। याद है, हम लोग अपने अवकाश में किस तरह विदेशी माँझियों से उनके देश, उनके देवी-देवताओं के बारे में बातें किया करते थे! और उनके कैसे-कैसे विचित्र विषय होते थे। मैंने शूर्पारक और भरुकच्छ को भी देखा है, परंतु यह कह सकता हूँ कि ताम्रलिप्ति की होड़ कोई नहीं कर सकता। कलिंग का ही नहीं, ताम्रलिप्त संसार का गौरव है। वह यादें बहुत मीठी हैं; अब उनकी मैं जितनी याद करता हूँ उतनी ही मन में कचोट-सी उठती है। जब तक यह पत्र इस सार्थ के साथ तुम्हारे पास पहुँचेगा तब तक जाने कितना परिवर्तन हो जायेगा। किंतु अभी मुझे पाण्ड्य देश का एक व्यापारी मिला था जो महोदधि (बंगाल की खाड़ी) से होता हुआ, गंगामार्ग चलकर, यमुना तीर पर, मेरी कोसांबी में आ पहुँचा था। उससे मैंने बहुत नयी-नयी बातें सीखीं। उसका रंग तांबे का-सा था। वह जरा मछली खाने का शौकीन था, और तुम जानते हो कि मैं ठहरा वैष्णव! मेरे यहाँ इसकी कितनी मुसीबत रही होगी। लेकिन अपनी लंबी यात्राओं से मैंने एक बात सीखी है कि मनुष्य अलग-अलग तरह के खाने खाते हैं। अतः मैं इसपर अधिक ध्यान नहीं देता। और दूसरी बात जो मैंने अनुभव की है कि वस्तुतः यह जो अलग-अलग देवता हैं, यह सब मनुष्य की मान्यता के कारण ही देवता हैं। ऋषियों ने इसीलिये कहा है कि यह सब देवता अंतिम सत्य नहीं हैं। देवताओं से ऊपर भी एक शक्ति है और वह ब्रह्म है।

क्या है वह ब्रह्म यह कोई नहीं जानता। तभी उसे ऋषियों ने 'नेति नेति' कहा है। वे तो यह भी कह चुके हैं कि किसी भी देवता को उसी रूप में देखा जा सकता है। यहाँ मैं तुम्हें इसी संबंध की एक घटना बताता हूँ। पुराणों की कथा सुनाने वाले एक व्यास मिले थे मुझे सौवीर देश में। तुम जानते हो कि व्यास इधर उन्हें कहते हैं जो इतिहास की कथाएँ सुनाते हैं। चौराहों पर अक्सर वे रात को बैठते हैं और स्त्री-पुरुष उनके उपदेश सुना करते हैं। हम वैष्णवों में तो धर्मप्रचार का यही प्रमुख मार्ग है। यह लोग पुरानी बातों को नये ढंग से ऐसे सामने रखते हैं कि सुनकर मन तृप्त हो जाता है। इधर तो यहाँ तक मनुष्य धर्म की नयी व्याख्या से प्रभावित हुए हैं कि विष्णु के नये मंदिरों में शायद शीघ्र ही चाण्डाल और ब्राह्मण साथ-साथ प्रवेश करें[1]। तो इन व्यास महोदय ने बताया कि वे एक बार तक्षशिला विद्यालय से लौटते हुए जब सागल (स्यालकोट) पहुँचे उन्होंने सुना कि पास ही शैवों और वैष्णवों में झगड़ा हो रहा था। व्यास महोदय तुरंत वहीं पहुँचे और उन्होंने कहा कि झगड़ा वस्तुतः व्यर्थ था। मूलतः शिव और विष्णु एक ही थे। एक ही परमात्मा था, परंतु वह इस प्रकार अपने दो रूपों में प्रगट हुआ था। झगड़ा शांत हो गया और अब यही प्रचार अधिक बढ़ता जा रहा है। यही कारण है कि मैं उस व्यापारी की मछली खाने की बात को बहुत बुरा नहीं समझता था। एक दिन उसने मुझसे इच्छा प्रगट की कि मैं उसे हस्तिनापुर के खंडहर दिखाऊँ। तुम तो जानते हो कि जिस कुरुकुल के महाराज परंतप शतानीक हमारे राजा हैं, वह कुरुकुल पहले हस्तिनापुर में शासन करता था। समय की बात कि उसे एक बार बाढ़ ने डुबा दिया और तब यह कौशांबी बसा दी गई। मैंने उसे ले जाकर सब दिखाया। वहाँ पास के गाँवों में महर्षि द्वैपायन व्यास का 'जय' काव्य सुनाते हैं लोग गा-गाकर। वहीं वह व्यापारी मुझसे विदा लेकर शूरसेन देश की ओर चला गया और मैं फिर कौशांबी की ओर नाव पर चल पड़ा। आते ही ज्ञात हुआ कि महाराज परंतप शतानीक चुपचाप नावों को लेकर वत्स देश से चले गये थे। अङ्गदेश पर वे आक्रमण

१. कौटिल्य के समय तक ऐसा हो गया था। इस युग से करीब २५० या ३०० वर्ष बाद।

कर रहे थे। सेना को जंगलों के रास्ते भेज दिया गया था। यह तो तुम जानते ही हो कि महाराज परंतप शतानीक से मेरे संबंध कितने अच्छे हैं। यह सत्य है कि इस मित्रता का प्रारंभ मेरे धन के प्रभाव से आरंभ हुआ था, परंतु बाद में मनुष्य ने मनुष्य को पास से देखा। महाराज परंतप शतानीक की वैदिक वर्णव्यवस्था में पूरी आस्था है, वैसे वे वैष्णवों से भी प्रभावित हैं, शैव और जिन श्रमणों से भी उनका साथ है। आज जो लोक में उच्छृंखलता है, वे उसके विरुद्ध हैं। मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि महाराज ने चुपचाप अङ्ग पर आक्रमण क्यों किया? अतः मैं अमात्यों में से अपने मित्र सुकुमार को खोजने लगा। वह चला गया था। उसका पुत्र यौगंधरायण मुझे मिला, जिससे मेरी जान-पहचान है। उससे ज्ञात हुआ। अवंति, कोसल और मगध से घिरा वत्स खतरे में था। अतः महाराज ने सोचा कि किसी प्रकार अङ्ग को जीता जाये तो उधर मगध और वैशाली को अटकाया जाये और बल बढ़ा लिया जाये। यौगंधरायण को इसमें संदेह था कि ऐसा हो भी सकेगा या नहीं। मैं लौटकर आया तो चल पड़ा और काशी पर ही मैंने तेज नावों के सहारे उन्हें पकड़ लिया। मुझे देख वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले: 'श्रेष्ठि धनवाह! तुम आ गये, यह बहुत अच्छा हुआ। मैं बड़ी चिंता में था।'

मैंने कहा: 'क्यों देव!'

बोले: 'बात यह है कि अङ्ग की रानी धारिणी हमारी मृगावती की बहन है। मेरा इरादा अङ्ग को जीतने का है, दधिवाहन और धारिणी को नष्ट करने का नहीं। इस समय यदि दधिवाहन मेरे कहने से चले तो हम मगध और वैशाली के इस दंभ को तोड़ सकते हैं। परंतु राजा कभी बिना शक्ति के नहीं झुकते। छोटा-सा राज्य है। सीधे जाकर राजधानी पर हम आक्रमण नहीं करेंगे। सीमाप्रांत पर लोगों को डरायेंगे। अङ्ग समर्पण करेगा। न करेगा तो करेगा क्या? ऐसा तो हो नहीं सकता कि वह युद्ध में हमसे जीत ले। ज़रा-सा झुकते ही हम अङ्ग का शासन अपने हाथ में न लेकर दधिवाहन के ही हाथ में रखेंगे। बहनें हैं रानियाँ और तब मगध को देखा जायेगा। यह काँटा मेरी आँखों में बहुत गड़ रहा है धनवाह! अवंति से मैं नहीं चौंकता, क्योंकि महासेन चण्डप्रद्योत वस्तुतः मूर्ख है। प्रसेनजित् अपने कोसल को काशी जीतकर महाकोसल कहने लगा है और काशी को मगध को देकर उसने

दोस्ती कायम कर ली है। फिर भी प्रसेनजित् की मुझे चिंता नहीं। चालाक तो यह है बिंबसार। वैसे बड़ा मीठा है। क्या सोचते हो!'

मैंने कहा: 'महाराज! अङ्ग और वत्स का पुराना मनमुटाव है। अङ्ग अवश्य इधर-उधर की शक्तियों को बुलायेगा और आपकी योजना शायद सफल न हो। अपराध क्षमा करें। आपने राय ली है तो मुझे खुशामद में सिर्फ़ हाँ में हाँ नहीं मिलानी चाहिये।'

'इसीसे तो मैं तुमसे प्रनसन्न हूँ धनवाह! तुम बताओ।'

मैंने कहा: 'देव! आप आक्रमण न करके यदि प्रेम भेंट के रूप में वहाँ जाते, या स्वयं देवी मृगावती को भेजते, तो यह कूटनीतिक चाल अच्छी चलती।'

'लेकिन तब अङ्ग मुझसे हिस्सा माँगता न? और यही क्या निश्चय है कि वह मान ही लेगा?'

'हाँ, यह बात तो है।'

'अब जो होगा सो देखा जायेगा।'

और इस तरह हमने काशी के बाद गंगामार्ग में छिपकर यात्रा प्रारंभ की। जब तुम इधर आये थे तब मगध के पास कोई गंगातीर पर बसी अच्छी बस्ती नहीं थी। अब इधर एक ब्राह्मण ने एक पाटलि गाम[1] बसा दिया है। अच्छा बड़ा हो गया है वह गाँव बहुत जल्दी। वहाँ से आगे बढ़ने पर हमें वन प्रदेश में उतर जाना पड़ा। अब मैं तुम्हें क्या बताऊँ कि युद्ध कैसे हुआ। वह कथाएँ भी मैंने बाद में सुनीं। मुझे महाराज ने एकांत में बुलाकर कहा: 'धनवाह! युद्ध हो तो होगा। यहाँ तो और भी मामला है।'

'क्या हो गया देव!'

'यह दधिवाहन मुझे कुछ सिड़ी मालूम देता है।' वे बोले।

'सिड़ी!' मैंने चौंककर कहा: 'सो क्यों महाराज!'

'यह कोई तपस्वी होता तो कहीं अच्छा रहता। अच्छा सुनो। तुम वेश बदलो और किसी प्रकार अब चंपा में घुस जाओ। धारिणी और उसकी कन्या की खबर

---

१. आगे चलकर पाटलिपुत्र बना—पटना।

लाओ।'

मैंने कहा : 'जो आज्ञा!' और चला गया।

मैं बना एक लखेरा और लाख की चूड़ियाँ पहनाने वाले के रूप में चंपानगरी में चक्कर लगा आया। पर कहीं सुराग नहीं लगा। एक दिन ऐसा हुआ कि मैं अङ्गराज्य के दक्षिण-पूर्व में जा पहुँचा क्योंकि मुझे धारिणी देवी से भी अधिक महत्व उधर मिला। देखता क्या हूँ कि सीमा पर कुछ मागध सैनिक खाना पका रहे थे। तुम तो जानते हो कि मैं मागधी खूब बोल लेता हूँ। भूखा बनकर उनके पास चला गया। बातों में उन्हें जीत लिया। उन्हें चूड़ियाँ दे दीं और उनसे खाना खाया। मदिरा के लिये उन्हें धन दिया, और जब वे नशे में मस्त हो गये, उनसे मुझे पता चला कि यहाँ तो खेल ही दूसरा था। मगधराज बिंबसार उनके पास ही जंगल में छिपा हुआ था। वह यह प्रतीक्षा कर रहा था कि कब वत्स की सेना से अङ्ग की सेना जाकर उत्तर में भिड़े और कब वह जाकर दक्षिण-पूर्व से चंपा पर दखल जमा ले। गजब का राजनीतिज्ञ था यह राजा बिंबसार। लोक में चिल्लाता था—हिंसा मत करो, हिंसा मत करो; पर था इतना चतुर। उसने तो अपने सैनिकों को छद्म-वेश में चंपा में घुसा रखा था, यहाँ तक कि उसको गुप्त परिषद् की भी बातें मालूम हो जाती थीं। वहीं मुझे मालूम हुआ कि दधिवाहन युद्ध नहीं चाहता था, और अङ्ग के लोग चाहते थे। उन्हींमें से जो दधिवाहन से असंतुष्ट थे, वे बिंबसार को खबर देते थे, बल्कि नौबत तो यहाँ तक थी कि बिंबसार बिना रक्त बहाये भी चंपा पर कब्जा कर सकता था, क्योंकि स्वयं प्रासाद में उसके आदमी थे। वत्स की सेना से वह लड़ना नहीं चाहता था। ऐसी हालत में मुझे पता चला कि हमारे महाराज तो कुछ भी नहीं जानते थे। मुझे यह लगने लगा कि चंपा जीतेगा यह बिंबसार ही और दधिवाहन, धारिणी और उनकी पुत्री बुरी तरह मारे जायेंगे। बिंबसार के कई रानियाँ हैं। फिर भी वह तृप्त नहीं है। ऐसे में जाने धारिणी देवी का क्या होगा? मागध, तुम जानते हो, बड़े गर्वीले हैं। उनमें अभी तक यह कथाएँ प्रचलित हैं कि मागध ही था जरासंध, जिसने मथुरा तक उत्तरापथ को लूटा था।

और हुआ यही। मित्र मणिपूरकदास! तुम सुनो कि उधर वत्स की सेना बढ़ी, इधर दधिवाहन ने अकेले जाकर उसे रोका और इधर यह हाल था कि बिंबसार से

कई व्यापारी वत्स में से मिले और उधर दधिवाहन ने अपने बलिदान से महाराज शतानीक को रोकना चाहा और इधर चुपचाप बिंबसार की सेना ने चंपापुरी पर अधिकार कर लिया। महाराज शतानीक चुपचाप लौट पड़े, क्योंकि लड़ने में बड़ा भारी खतरा था। मैंने सोचा कि अब क्या करूँ? महारानी धारिणी और वसुमति को ढूँढने भगदड़ में भी प्रासाद में घुस गया, लेकिन वहाँ मुझे ये दोनों नहीं मिलीं। और मैं उदास-सा लौट आया।

जब मैं कोसांबी पहुँचा तो इतना दुखी था कि महाराज से भी मिलने नहीं गया, और वे इतने विकल थे कि वे भी मुझे बुलाते, यह उन्हें भी नहीं जँचा। महारानी मृगावती रोई और महाराज शतानीक को उन्होंने लोभी, निष्ठुर जाने क्या-क्या कहा; और इस प्रकार वत्स एक शोक में डूब गया। मैं भी तब अपने व्यापार में लग गया। करता भी क्या? और इसी विषाद में मैं तुम्हें भी पत्र नहीं भेज सका, क्योंकि मुझे इस पराजय का बहुत बड़ा खेद था। मुझे आशा थी कि वत्स और अङ्ग के एक हो जाने पर मगध अपना होगा और मेरे सार्थ निर्द्वन्द्व चलेंगे, परंतु ऐसा नहीं हो सका।

यों ही अनेक दिन बीत गये। एक दिन मैं बहुत चिंतित था। चिंता क्या थी? जीवन क्या है? क्यों है? वही सब जिसे तुम मूर्खता कहते थे। और दूकान से घर लौट रहा था कि रास्ते में दासों की हाट पड़ी। रोज ही दास-दासियों को वहाँ बिकते देखता था, अतः कोई बात नहीं थी। परंतु उस दिन मैं कौतूहल से रुक गया।

एक अधेड़ स्त्री खड़ी चिल्ला रही थी और उसके पास खड़ी थी एक लड़की। शायद १४–१५ साल की होगी। थी अत्यंत सुंदर। सामने कुछ लोग खड़े थे। एक पालकी पास रुकी हुई थी। उससे उतरकर खड़ी थी नगर नायिका वेश्या अनंगसेना अपने बहुमूल्य वस्त्र पहने, और उसके साथ खड़ा था विट रोमलक विदिशा-निवासी। विट नगर में सम्मानित व्यक्ति होता है, यह तो तुम जानते ही हो। फिर रोमलक तो और भी विद्वान ठहरा। उसके पीछे वेश (वेश्याओं के बाजार) के कई लोग खड़े थे। अनंगसेना की भौं उठते ही ये लोग हिल उठते थे। अनंगसेना ठहरी कोसांबी की सबसे धनी वेश्या।

मैंने विट रोमलक से जाकर आदर सूचक शब्द कहा: 'भाव!'

वह मुझे देख एक ओर आ गया।

इस समय एक बंदर उछलकर उस सुंदर लड़की की तरफ आ गया। लड़की ने उसे केला फेंका। तब मैंने देखा कि उस लड़की के पास कुछ फल थे। वह ऐसी निर्विकार और निश्चिंत खड़ी थी जैसे उसे कुछ पता ही नहीं था कि क्या हो रहा था।

'क्या है आर्य !' विट ने कहा।

'यह क्या होता है ?' मैंने पूछा।

उसने कहा : 'कुछ नहीं आर्य ! यह अधेड़ स्त्री एक रथी की पत्नी है। इसका पति मागध सेना में था, अब छोड़ आया है नौकरी। और बस गया है अपने घर। वहाँ से वह इस सुंदर लड़की को उठा लाया है। इस समय वह किसी काम से कहीं गया है और यह अधेड़ स्त्री इस लड़की को ऊँची कीमत पर बेचना चाहती है। अनंगसेना ने इसका रूप देखकर इसके चार हज़ार पण लगा दिये हैं। इतनी रकम और कौन दे सकता है। सबने छोड़ दिया है इसपर दाँव लगाना। आप तो जानते ही हैं कि यह लड़की अगर अनंगसेना के यहाँ बड़ी हुई तो क्या न कर डालेगी। चार हज़ार पण तो पहली रात के ही हो जायेंगे। सौदा ऐसा था कि अधेड़ स्त्री तो तैयार हो गई मगर लड़की ने अचानक टाँग मार दी। कह उठी : लगता है कि मेरी होने वाली स्वामिनी वेश्या है। और वह मुझे वेश्या बनाने को खरीद रही है। ऐसी अवस्था में मैं इसके हाथ नहीं बिकूँगी, क्योंकि दासी का काम कर सकती हूँ, अपना स्त्रीत्व नहीं बेच सकती। और जब मैं पाप के पथ पर नहीं जा सकती, तो इसके धन पर पलकर इससे विश्वासघात भी नहीं कर सकती।'

यह कहकर विट ने कहा : 'बस आर्य ! इतनी-सी बात है। मगर लड़की गज़ब की है। कहकर चुप है, जैसे उसे कोई चिंता ही नहीं। आई थी यह जब इस हाट में कुछ देर पहले, तो अधेड़ स्त्री तो बोल भी न पाई, यह स्वयं पुकारने लगी : अरे कोई मुझे खरीद लो। यह मेरी माँ मुझे बेचना चाहती हैं। इसने मुझे इतने दिन रोटी दी है। इसके पति ने मुझे बेटी की तरह पाला है। इनका मुझपर बड़ा अहसान है। उसे चुकाने को नहीं, वरन् इनके उस दारिद्र्य को मिटाने को मैं खुद बिकना चाहती हूँ जिसने इन्हें ऐसा बना दिया है। लगाओ बोली ! जो ऊँची कीमत देगा

मैं उसकी दासी बनूँगी।'

विट चुप हो गया। तब वेश्या अनंगसेना ने कहा : 'यह तो पण्य है। मैं पण देती हूँ। मुझसे अधिक कोई देता नहीं। तब यह लड़की मेरी हुई।'

अधेड़ स्त्री ने कहा : 'आर्ये! आप ले जायें इसे। मैं तो बस धन चाहती हूँ।'

बड़ी हृदयहीनता थी वहाँ। पर नित्य ही वहाँ ऐसा होता है। वेश्या ने आगे बढ़कर उस लड़की का हाथ पकड़ा। बंदर ने देखा कि फलवाली लड़की पकड़ी जा रही थी, सो अनंगसेना पर टूट पड़ा। अनंगसेना भागी और वेश के लोगों ने उसे बचाया। तब वह रोने-चिल्लाने लगी।

मैंने देखा। सामने वह सुंदर लड़की खड़ी थी।

बढ़कर पूछा : 'बेटी! तेरी कीमत क्या लगी है?'

उसने मुझे देखा और कहा : 'चार हज़ार पण।'

'मैं पाँच हज़ार देता हूँ!'

अधेड़ स्त्री हर्ष से चिल्ली-सी उठी और मैं उसे ले आया। आ गई वह मेरे साथ।

मणिपूरक दास! जीवन में मुझे एक नयी सार्थकता दिखाई दी। मुझे लगा कि मैं नरक में से एक आत्मा को उबार लाया था। वहाँ मनुष्य पशुओं की तरह बिकते हैं। कब आयेगी मनुष्य को इस बर्बरता पर लज्जा! कब वह सचमुच मनुष्य होगा! परंतु वह ऐसी थी जैसे उसे कुछ भी चिंता नहीं थी।

बाज़ार में लोगों ने मुझपर व्यंग्य भी कसे कि धनवाह ने कमाल कर दिया। मैंने कोई परवाह न की। घर जाकर मैंने अपनी पत्नी मूला से कहा : 'मूला! मैं यह लड़की दासों की हाट से ख़रीदकर लाया हूँ पाँच हज़ार पणों में।'

मूला ने अवाक् होकर पूछा : 'इतने दाम देकर! भला सुनूँ तो इसमें ऐसा क्या था! अब इस आयु पर तुम लड़कियाँ रखोगे? मेरे रहते!'

मेरा मन विषाक्त हो गया। दासी ने मेरी व्यथा को जैसे समझ लिया। कहा: 'माँ! पिता ने मुझे नहीं ख़रीदा! नारी जाति के अपकार को ख़रीदा है!'

मैंने चौंककर देखा। मूला विस्मित-सी खड़ी रही।

लड़की खूब काम करती थी। शायद मूला ने उससे काम लेने में कसर भी नहीं

की । मैं देखता था । एक दिन मैंने मूला के सामने ही उससे कहा : 'बेटी ! इतना काम क्यों करती है ?'

लड़की ने हँसकर कहा : 'श्रेष्ठि ! दास और दासी काम करने को ही तो होते हैं ! उसमें और पशुओं में भेद ही क्या है ?'

मूला बड़बड़ाई : 'हाँ-हाँ ! तुझे बिठाके चराऊँ ?'

जीवन के अभिशापों का अंत नहीं है मेरे मित्र ! मैं तुम्हें इस पत्र में सब कुछ कैसे लिख सकता हूँ । यों ही समझ लो कि मूला उसपर कठोरता करती, बल्कि कहूँ कि अत्याचार करती और वह लड़की कभी शिकायत नहीं करती जैसे वह जिंदी थी या मर गई थी, यह भी उसे नहीं मालूम था । हम उसे नयी दासी कहते थे और वह इसी नाम से उत्तर दिया करती थी । जब कभी मूला बहुत कठोरता करती तब मैं उसे रोक देता था और तब मूला ऐसी बातें कहती जैसे मैं उस लड़की पर मुग्ध था। परंतु लड़की सदैव मुझे पिता कहती थी ।

एक दिन मूला ने गर्म पानी से स्नान किया । मैं बाहर से आकर प्रांगण में पड़ी चौकी पर बैठ गया और मैंने पुकारा : 'बेटी ! गर्म पानी हो तो ले आ। पाँव धो लूँ ।'

लड़की आ गई और मेरे पाँव धोने लगी । मैंने कहा भी कि रहने दे, पर वह नहीं मानी । उसके खुले केश उसकी आँखों पर गिरने लगे । मैंने उसे परेशान होते देखकर लट पीछे हटाते हुए कहा : 'बेटी ! तेरा नाम क्या है ?'

'नयी दासी !'

'किसकी पुत्री है ?'

'नहीं जानती पिता ।'

'जब से तू आई है, घर में सुवास फैल गई है । अब से मैं तुझे नयी दासी नहीं कहूँगा । तेरा नाम रखूँगा । क्या रखूँ तेरा नाम ! तूने घर में सुवास फैलाई है । मैं तुझे चंदनबाला कहा करूँगा ।'

मूला हठात् ओट से सामने आ गई ।

व्यंग्य से बोली :'क्या नाम रखा है लाड़ली का !'

मैने कहा :'चंदनबाला ।'

सच कहता हूँ जैसी विचित्र मुद्रा उस क्षण मूला के मुख पर आई, वैसी मैंने शायद ही देखी हो। मैं नहीं जान पाया कि वह ईर्ष्या थी, कि प्रतिहिंसा, कि क्रोध, कि ग्लानि, कि विवशता।

एक दास ने आकर तभी कहा कि विदिशा के कुछ व्यापारी आये थे।

मैंने मूला से कहा : 'देखो आर्ये ! संभवत: मैं अभी इनके साथ ग्राम प्रांत में जाऊँगा। व्यापार का काम है।'

'कब तक आओगे ?' उसने पूछा।

'तीन-चार दिन लग सकते हैं।'

'वाह ! फिर मुझे तो मायके जाना है। अभी तुमसे कहना ही चाहती थी।'

'तुम चली जाना किसी सेवक को साथ लेकर।'

कुछ पता नहीं चला कि मूला के कहने का क्या मतलब था। मैं चला गया। लाभ भी खूब हुआ।

चौथे दिन लौटा तो क्या देखता हूँ कि घर में कोई नहीं। दास-दासियाँ छुट्टी पर हैं। सोचा और होता भी क्या ? स्वामी नहीं, स्वामिनी नहीं। मूला मायके गई है, और मैं गया गाँव। घर में रहकर भी क्या करता कोई। पशुशाला के सेवक अवश्य थे। वृद्ध गोपाल ग्वाले को मैंने बुलाकर कहा : 'अरे गोपाल! स्वामिनी गई थीं तब तू था ?'

'हाँ स्वामी ! मैं था। वे रोहितक को साथ लेकर गई हैं।'

'और चंदनबाला कहाँ है ?'

'नयी दासी ?' गोपाल ने कहा:'अपने घर गई होगी।'

'उसका घर कहाँ से आया ?' मैंने कहा।

गोपाल चला गया, पर मैं चिंता में पड़ गया। गई तो कहाँ गई ! ! कहीं भाग तो नहीं गई ! दासी का क्या ! मुझे क्रोध चढ़ने लगा। इन दास-दासियों को इतना सिर पर चढ़ाना ही नहीं चाहिये। हम तो सोचते हैं, मगर यह कहाँ सोचते हैं ! इनका तो मन छोटा ही होता है न ?

यही सब सोचता हुआ मैं प्रांगण में बैठा था कि कहीं भीतर खनखनाहट की हल्की आवाज-सी सुनाई दी।

कौतूहल से उठकर गया तो आवाज़ मुझे भोंयरे के बंद द्वार के पीछे से सुनाई दी !

भोंयरे में ! यहाँ कौन है ? मूला ने किसीको दण्ड दिया होगा! मगर किसे ! घर में है कौन जो इस बंदी को खाना देगा !

मैंने पुकारा : 'कौन है भीतर !'

'नयी दासी !' सुनाई पड़ा एक क्षीण स्वर।

लपककर मैंने द्वार खोला। अंधेरा दूर नहीं हुआ तो मैंने राजपथ की ओर वाला द्वार भी खोल दिया। उजाले में देखा। चंदनबाला। सिर के लंबे केशों की जगह सियाड़े जैसे कटे हुए केश। शरीर पर मैल। हाथों में हथकड़ी, पाँवों में बेड़ियाँ !

'चंदनबाला !' मैं आर्तवेदना से चिल्ला उठा : 'यह किसने किया ?'

उसने धीरे से मुस्कराकर कहा : 'भाग्य ने !'

भाग्य ! ! मैं देखता रह गया।

'पानी ! कुछ खाने को दें आर्य ! तीन दिन से यहीं बंद हूँ।' यह कहकर वह फिर मुस्कराई।

उस मुस्कान, उस धैर्य को देखकर मुझे लगा कि मेरे सामने एक बड़ी शक्ति खड़ी थी। किसीसे कोई शिकायत नहीं।

मैं भागा। खाने को था क्या ! कुछ नहीं। एक सूप में उर्द के बाकले रखे थे। उसे लेकर मैंने फिर भोंयरे में जाकर कहा : 'बेटी ! तीन दिन की भूखी है। ले तब तक इसे खा। मैं अभी आया, लुहार को लाऊँ तो तेरी बेड़ियाँ कट जायें।'

मैं चला गया। जब लौटा तो क्या देखता हूँ कि चंदनबाला राजपथ की ओर वाले भोंयरे के द्वार पर खड़ी है। उसका एक पाँव भीतर है, एक बाहर है। फटे और मैले कपड़ों में से उसका वक्ष और शरीर झाँक रहा है। आँखों में आँसू हैं, किंतु होठों पर प्रशांत मुस्कान है और सामने असीम करुणा लिये खड़े हैं वर्द्धमान महावीर। भिक्षा ले रहे हैं श्रमण। दिगंबर ! हड्डी-हड्डी निकल रही है। सड़क पर लोग चिल्ला रहे हैं : 'श्रमण ने पन्द्रह दिन का उपवास तोड़ा है, यह लड़की धन्य है जिससे इस तपस्वी ने भिक्षा ली है !'

उसी समय श्रमण ने हाथ उठाकर लड़की से कहा धीरे से : 'धीरज रख !'

श्रमण मुड़कर चल पड़े। निर्विकार ! चंदनबाला देखती रही।

भीड़ में से एक व्यक्ति ने रोते हुए उसके पाँव पकड़कर भर्राये स्वर से कहा : 'राजकुमारी ! यह क्या हुआ राजकन्ये ! अरे मैं मर क्यों न गया ! अरे मेरी छाती क्यों न फट गई ! मैं ही हूँ वह नीच जो चंपा की महारानी को वासना से मदांध होकर पकड़कर धोखे से ले जा रहा था। मेरे ही कारण उस सती तपस्विनी ने हँसते हुए कटार अपनी छाती में यह कहते हुए मार ली थी कि रथी ! स्त्री को देख-कर माँ समझ ! उसे लोलुपवासना का पात्र मत समझ ! तू इस रूप से जल रहा है, तो मैं इसे बुझा देती हूँ !'

वह व्यक्ति तब फूट-फूटकर रोने लगा और फिर उसने भीड़ से कहा : 'चंपा की महारानी इस तरह मेरे ही कारण मर गई। तब मेरी आँखें खुलीं। सब तरफ़ लूट मच रही थी। तब मैं इन्हें—राजकुमारी वसुमति को छिपाकर अपने घर ले आया। वहाँ से यह खो गई और आज इस हालत में देख रहा हूँ इन्हें।'

वह चंदनबाला के पाँव पकड़कर रोने लगा। चंदनबाला ने मुस्कराकर कहा : 'पिता ! अब मैं भिक्षा दे चुकी। थोड़ा खा लूँ। तीन दिन की भूख है। पहले मिटा लेनी चाहिये !'

'तीन दिन की भूख !' वह चिल्लाया।

मैं आगे बढ़ा।

रथी ने कहा : 'कौन ! श्रेष्ठि धनवाह ! तुम्हारे पास कहाँ से आई यह ? चुरा लाये तुम इसे ?'

चंदनबाला ने उर्द के बाकले खाते हुए कहा : 'नहीं पिता ! मुझे इन पिता ने खरीदा है। पाँच हज़ार पण देकर !'

'किसने बेचा तुम्हें ?' रथी ने विस्मय से पूछा।

'भाग्य ने !' चंदनबाला मुस्करा दी।

भीड़ बढ़ रही थी।

चंपा की राजकुमारी ! वसुमति ! दासी बनकर जीवन बिताया है उसने ! मुझे चक्कर-सा आया और मैं बेहोश होकर वहीं गिर पड़ा।

उसके बाद जब मैं जागा तो सचमुच वह एक जागरण था। जैसे सूर्य उग आया हो नरक के घोर अंधकार में ! सब कुछ खो गया मेरे सामने से। याद हैं केवल यह गीत, जो कोसांबी में गूँज रहे ह—घरों में, पथों में, खेतों में, नदी तीर पर; सब जगह गीत गूँज रहे हैं :

'हे ब्रह्मा ! तेरी सृष्टि बड़ी अनमोल है, इसे बारंबार प्रणाम करने को जी चाहता है।'

तब स्त्री गाती है : 'अरे देखो-देखो ! वह किसकी सेना आई है ! वह है वत्स-राज शतानीक ! वह अङ्गदेश को निगलने चल पड़ा है। अङ्गदेश में हलचल मच रही है, किंतु जब अङ्गदेश की सीमा आती है तब शतानीक को लगता है सामने सत्य का पर्वत आ गया है। बताओ वह कौन है ?'

पुरुष गाते हैं : 'ओ गानेवाली ! सुन कि वह दधिवाहन है। वह अहिंसा और करुणा का उपासक है। वह अपने रक्त का बलिदान देकर कहता है कि राज्य और राज्य की सीमा को मिटा दो। युद्ध पशुता का चिन्ह है। तुम मनुष्य हो, करुणा को अपना आधार बनाओ। और शतानीक हाथी से उतरकर उसका सिर गोद में लेकर रोता हुआ कहता है कि दधिवाहन ! तेरा त्याग दधिचि और शिबि के त्याग से भी ऊँचा है। ओ राजा ! तू हारा नहीं, स्वर्ग चला गया और तेरी मृत्यु में धर्म ने जीवन पाया है।'

तब एक नया दल आकर गाता है : 'अहह ! धिक्कार है ! इधर राजा धर्म की ज्वाला जलाता है, उधर बिश्वासघाती बुला लेते हैं राज्यलोलुप बिंबसार को।'

स्त्रियाँ गाती हैं : 'उनको बुरा मत कहो वत्स के पुत्रो ! आओ, तुम्हें हम अमरता की एक कथा सुनायें, जिसे सुनकर सावित्री और सीता के भी नयन आँसुओं से भर आयेंगे। जिसे सुनकर साक्षात् यम का हृदय भी विचलित हो जायेगा। ऐसी है यह दारुण कथा। हृदय सँभाल लो, क्योंकि अब करुणा की जमुना बहेगी, वेदना से श्यामल होकर।'

अब कौन गा रहा है, मैं नहीं देख पाता, क्योंकि मैं विभोर हो गया हूँ।

'आओ ! आओ ! देखो !'

'योद्धाओं के भुजदण्ड फड़क रहे ह और लोथों पर लोथें गिर रही ह। चारों

ओर हाहाकार मच रहा है।'

'मागध दधिवाहन का महल लूट रहे हैं।'

'यह कौन है?'

'यह सेनापति रुद्रवर्मा की पुत्री विरजा है। इसपर सैनिक झपट रहे हैं। आ पहुँची। आ पहुँची। पुरानी दासी जरिता। वह आततायी का सिर काट देती है और तब उन दोनों स्त्रियों को सैनिक मार डालते हैं।'

'सावधान! रोना नहीं। श्याभेलिका का सिर अब भालों पर गड़ा आकाश की ओर उठ गया है।'

'और रानी धारिणी बैठी है। बगल में बैठी है राजकुमारी वसुमति। जैसे पूर्ण-चंद्र के पास रोहिणी हो। कोलाहल सुनकर माँ कहती है: बेटी! छिप जा। शायद अत्याचारी आ गये हैं।'

'बेटी कहती है: ओ मेरी माँ! मैं किसीसे नहीं डरती। मेरे पिता का सत्य मेरे पास है। उसे कलंकित कर जाये ऐसा साहस किसीमें नहीं।'

'वासना में चकित हो जाती हैं लुटेरे रथी की आँखें। सोचता है। बिंबसार इन्हें पकड़ लेगा तो मुझे क्या मिलेगा। जाकर कहता है: रानी! राजा रण से भाग गये। चलो उन्होंने बन में बुलाया है।'

'रानी कहती है: अरे नीच! ऐसा नहीं हो सकता। और जो यह सत्य है, तो मैं यहीं मरूँगी। ऐसे कायर से मुझे क्या नाता?'

'तब वह छली कहता है: रानी! रणभूमि की नीति रुद्रवर्मा ने यही नियत की। मगध के अचानक आक्रमण में यही आवश्यक हो गया।'

'तब वह माँ-बेटी को बहकाकर वन में ले जाता है और जब आकाश का हृदय संध्या ने लाल कर दिया है, कहता है: ओ रानी! तू फूलों में चंपा है, तू नक्षत्रों में चंद्रमा है। वह सब झूठी बात थी। तेरा राजा तो मारा गया। अब न तेरा वत्स में ठिकाना है, न मगध में, न चंपा में। तू तो स्त्री है। कोई न कोई तो तेरा भोग करेगा ही। आ अब मुझे यौवन दान दे। मैं तुझे बड़े प्यार से रखूँगा। आ प्रिये।'

'रानी सुनती है तो रोती नहीं। बिटिया—हा पिता—कहकर रोती है तो

रानी कहती है : रो नहीं पुत्री ! तेरे पिता वीर थे उनके स्तर तक उठ।'

'रथी अधीर होकर हाथ पकड़ता है तो रानी दूसरे हाथ से कमर से कटार निकालकर अपना वह हाथ काट देती है और कहती है : मत छू मुझे वासना से रथी ! यदि मेरा रूप तुझे मनुष्य से पशु बनाता है तो ले।'

'रानी मरती है। रथी घुटनों के बल बैठकर रो-रोकर चिल्लाता है : माँ ! मैं पापी हूँ ! तू देवी थी। मैं कुत्ता हूँ।'

'पर बिटिया नहीं रोती ! वह माँ का शव देखती है और उसके चरणों पर हाथ रखकर कहती है : माँ ! तेरा गौरव मुझे बल दे। पिता का बलिदान मुझे सत्य दे।'

'रथी चिता बनाकर रानी को रखकर उसपर कूदकर जान देना चाहता है तो बिटिया रोककर कहती है : ओ रथी ! तू मेरा पिता है अब ! कायर मत बन ! राह रुकी नहीं है। यहीं से जीवन को पवित्र करना प्रारंभ कर।'

'तब रथी उसके पाँव पकड़कर कहता है : तो चल माँ ! मेरे घर चल।'

'ओ सुनने वालो गंगा पर नौका चली, माँझियों ने पतवार डाले और जमुना पर नौका आई, रथी भी मनुष्य से देवता समान हो गया। ऐसी है उस बिटिया की वाणी।'

अब स्त्रियाँ गाती हैं : 'हाय री सिरिया ! हाय री चूलकोका ! तुमने स्त्री को इतना निर्बल बनाया तो उसके हृदय में इतना विष क्यों भर दिया। रथी तो उसको बेटी बनाकर रखता है, पर रथी की स्त्री समझती है कि यह लड़की मेरी सौत है। और उसे एक दिन पति से छिपकर बेच आती है।'

'रथी लौटकर पूछता है : मेरी लाडली, मेरी दुलारी बिटिया कहाँ है ?'

'रथी की स्त्री कहती है : पुरुष बड़ा छलिया होता है यह मैं खूब जानती हूँ। पर वह तो कहीं भाग गई।'

'रथी को विश्वास नहीं होता। तब उदास हो जाता है वह जीवन से।'

गीत बहुत लंबा है। उसका अंत ऐसा है :

'यह अभिग्रह करके कौन निकला है !'

'अरे यह तो महावीर है ! परमवीर है ! वर्द्धमान श्रमण है। पन्द्रह दिन का

भूखा है। उसने सोचा है कि वह जीवन में फिर लौटेगा तो तब जब उसे ऐसा प्राणी मिलेगा! कैसा प्राणी! जानते हो! ऐसा रे ऐसा! सुनो ऐसा! वह जिसे दासत्व ने बाँधा है, पर जो स्वतंत्रता का प्रकाश देख रहा है। जिसका मन स्वतंत्र है। वह जो रो रहा है, दुखी है, परंतु सत्य की विजय की मुस्कान जिसके होठों पर खेल रही है। जिसके पास खाने को नहीं है, फिर भी दूसरे को देकर ही खाना चाहता है।'

'चल पड़ा है श्रमण! कोसांबी के धनाढ्य उसके तप का लाभ उठाने उसे दान देने को पीछे चल रहे हैं। परंतु महावीर तो भूखों और दासों को जगाने आया है। वह अपनी तपस्या को और भी पवित्र करेगा। लोक के पीड़ित से अपनी अंजलि भर कर। यह नंगा तपस्वी है न? इसने अपने विकारों को जीत लिया है।'

'अधनंगी खड़ी है चंदनबाला। नंगा खड़ा है श्रमण! दोनों ओर कोई विकार नहीं। जय हो! इस अनासक्ति की जय हो! असीम करुणा से दोनों एक दूसरे को देखते हैं। महावीर सचमुच महावीर है। वह स्त्री से डरता नहीं। वह स्त्री को भी साधना में पवित्र मानता है। आत्मा सब में है। सब ही पवित्र हो सकते हैं।'

'ओ मूला देख! तू इसको सौत समझे थी न? देख यह कैसी पवित्र है! तूने इसको कुरूप बनाने को इसके केश काटे थे न? देख यह तो और भी सुंदर हो गई। तूने इसे मैले-फटे वस्त्र पहनाकर नंगा किया था, पर यह तो सत्य के तेज से ढँकी है। तूने इसे भोंयरे में डालकर मार डालना चाहा था, पर यह तो अमर हो गई।'

'रथी रोता है: ओ ओ ओ!'

'यह तो मेरी माँ है!'

'हाय! राजकुमारी मेरी दासी बनकर रही? हृदय फटा जा रहा है, श्रेष्ठि धनवाह का!'

बस मित्र! अब मैं कहाँ तक लिखूँ वह गीत!

मैं तो देखरहा हूँ कि वसुमति खड़ी है पथ पर। भीड़ें जुड़ रही हैं। और वह कह रही है: 'कोसांबी के नागरिको, नागरिकाओ! जीवन एक कठोर यातना है,क्योंकि स्त्री और पुरुष एक दूसरे से घृणा करते हैं। घृणा का जन्म होरहा है झूठे प्रेम से। झूठा प्रेम है यह व्यक्ति का व्यक्ति के प्रेम में बंदी हो जाना, अपने को सीमित कर लेना। इसीने क्षुद्रत्व को जन्म दिया है। इसीके कारण मनुष्य लोक को प्यार नहीं

करता । तीर्थंकर की वाणी भी तब तक व्यर्थ है, जब तक मनुष्य के लिये नहीं है । मैंने सोचा था कि चंपा का उद्धार करूँगी, किंतु चंपा ही नहीं, सारा लोक दुखी है । मैंने सोचा था कि स्त्री के साथ अत्याचार होता है, किंतु सभी स्त्री-पुरुषों के साथ अत्याचार हो रहा है । कौन कर रहा है यह अत्याचार ! स्त्री और पुरुषों पर स्त्री और पुरुष ही तो अत्याचार कर रहे हैं । भाग्य का नाम मत दो उसे, वह तुम्हारे कर्मों का फल है । लोक के लिये सत्कर्म करो और व्यक्ति के लिये कर्मों की आसक्ति का नाश ! मुझे रथी पिता ने नहीं, उसकी पत्नी ने बेचा जो एक स्त्री थी । स्त्री ने स्त्री को बेचा पशु बनाकर । माता मूला ने चाहा कि मुझे मार डालें, उनके पति ने नहीं । यह झूठ है कि स्त्री पर अत्याचार हो रहा है । अत्याचार स्त्री-पुरुष दोनों पर है । स्त्री पुरुष पर भार है, अतः वह स्वामी बनकर भ्रम में पड़ता है और उसे दबाता है । और स्त्री छल से उसे दास बनाती है अपने यौवन के बल पर !'

मित्र ! शतानीक के भेजे हुए राजकर्मचारी आये वसु को ले जाने । खबर वहाँ तक पहुँच गई । परंतु वसु ने क्या कहा । जानते हो ? उसने कहा : 'माता मृगावती और पिता शतानीक से कहना कि वसु अब चंदनबाला हो गई है । चंदन कटकर ही गंध देता है । बिना कुछ किये जो मुझे यह पवित्र नाम मिल गया है, उसके लिये मुझे अपने को योग्य प्रमाणित करना होगा, क्योंकि जिसने मुझे यह नाम दिया है , उसने तब मुझे यह नाम दिया जब मैं उसकी दासी थी । पिता धनवाह एक महान आत्मा है । अब मुझे प्रासादों में नहीं रहना है, लोक को जाकर यह सुनाना है कि दुःख से लड़ो, दुःख को मिटाओ । लोक की सेवा से बढ़कर कोई सुख नहीं ।'

राजकर्मचारी लौट गये ।

चंदनबाला चल पड़ी । भीड़ चल पड़ी । मृगावती और शतानीक, रथी, मला, रथी की पत्नी, नगरनायिका अनंगसेना और मैं, सब पथ पर खड़े रोने लगे । भीड़ ने वसु के चरणों में प्रणाम किया । महाराज शतानीक और मृगावती ने आशीष दिया ।

वह चली गई । कहाँ ?

वहाँ जहाँ वर्द्धमान श्रमण थे।

देखा तो मुस्कराये। पवित्र मुख, निर्विकार, दिगंबर! देखकर ही लगता था कि यह व्यक्ति महावीर था! जैसे उसने कहा था: 'मुझे देखो! ऐसा होता है मनुष्य! नग्नता से घृणा करते हो? तुम अपने विकारों के कारण अपने आपको देखना भूल गये हो।'

वसु ने कहा: 'श्रमण! आई हूँ आपके चरणों में सत्य खोजने। स्त्री हूँ। पुरुष ने जिसे वासना का पुञ्ज कहा है। स्थान मिलेगा?'

महावीर ने कहा: 'साध्वी! तूने मेरे अभिग्रह की रक्षा की। खोजने निकला था लोक में, कौन है ऐसा जो मेरे कार्य को बढ़ा सके। दासता तोड़नी है, तोड़नी है शृंखला। दुःख पर विजय पानी है, उसमें मुस्करा कर। तू खड़ी थी। स्त्री है! यह तो प्रकृति है। लोक के लिये पुरुष और स्त्री आवश्यक हैं। तप करके पवित्र होने के लिये घर से भागकर जाना आवश्यक नहीं, कहकर जाना चाहिये। हम वीरता प्राप्त करके निकलते हैं। कहकर घर से निकलो, यदि उस महान लक्ष्य तक न पहुँचो तो कम से कम इस निर्बलता को तो पहचानो। कोई ईश्वर नहीं है कि अपने पाप-पुण्य उसपर फेंक सको। यह तो निरंतर चलती रहने वाली प्रकृति है। स्त्री वासना है। अवश्य है। पुरुष को रोकती है। परंतु पुरुष भी वासना है। अवश्य है। वह स्त्री को रोकता है। मुझे चाहिये स्त्रियों को नवीन चेतना देने वाली तपस्विनी। दूसरों को मार्ग दिखाने के पहले अपने को इस योग्य बनाना होगा। ज्ञान देने के पहले स्वार्थ और लोलुपता से उठना होगा। जिन धर्म बहुत प्राचीन है चंदनबाला! कभी मत समझो कि तुम और तुम्हारा युग ही महान् है। प्रत्येक युग महत्वपूर्ण है। अवसर्पिणी पर अवसर्पिणी बदलती चली जाती हैं। उत्थान और पतन होते रहते हैं। इनके बीच ही व्यक्ति को उठना होगा और सारे लोक को उठाना होगा। हिंसा, क्रूरता, हत्या को मिटाओ। दासता को दूर करो जिसने मानवता के पाँवों में बेड़ियाँ डाल रखी हैं। सब मनुष्यों की आत्मा एक समान है। जाति-पाँति के बंधन झूठे हैं। कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं।'

मैंने सुना। लगा जैसे भीम पशु-अंधकार उस सूर्य-ज्ञान सिंह की गर्जना-ज्योति से खंड-खंड हो रहा था।

मित्र मणिपूरकदास ! यही है मेरे विलंब से पत्र लिखने का कारण । समझ गये होगे । चंदनबाला तो पथ पर खड़ी थी, चल पड़ी । किंतु मेरी अशांति नहीं मिटी है। अङ्गराज्य मिट गया । अब वहाँ बिंबसार का राज्य है । किंतु क्या धारिणी मर गई ? क्या दधिवाहन मर गया ? क्या कभी चंदनबाला मर जायेगी ? सुनता हूँ कोई शुद्धोदन राजा के पुत्र गौतम सिद्धार्थ अब अपने को बुद्ध कहते हैं । परंतु उनके धर्म में स्त्री को कोई स्थान नहीं है । क्या स्त्री के उत्थान के बिना लोक में पुरुष का उत्थान हो सकेगा ? वर्द्धमान महावीर है । वह कहता है : 'लोक में व्यक्ति सुख की इच्छा से पाप करता है । सुख तब आता है जब एक व्यक्ति दूसरे से कुछ अधिक प्राप्त करके, उसे कम देना चाहता है । इसलिये उसे सुख मत समझो, जो अत्याचार से मिलता है ।' राजा, महाराजा, श्रेष्ठि आकर चरणों पर सिर झुकाते हैं । कभी कहते हैं भिक्षा लो, उपवन लो, विहार लो; परंतु वह महावीर कहता है' · · 'लोक देगा' · · 'किसी से मत लो' · · 'तपस्वी को कुछ नहीं चाहिये' · · 'अपरिग्रह करो' · · ·

और चंदनबाला उसी पथ पर चल रही है । परंतु मैं ? अपनी समस्या को अभी तक सुलझा नहीं पाया हूँ । और जब ध्यान आता है कि एक दिन मेरे घर में यह राजकुमारी दासी थी और उसने दासों के साथ होने वाले अत्याचार को सहज ही स्वीकार कर लिया था, कभी अपना परिचय देने की निर्बलता नहीं दिखाई, तो मन ग्लानि से कटने लगता है । कहती है : 'दासी थी मैं । तो दासी की तरह क्यों न रूखा-सूखा खाती । मनुष्य दासत्व क्यों रखता है ? मेरे अकेले के दासत्व से छूटने से क्या होता ? क्या दासत्व का दुःख मिट जाता ? अब भी मैं दासी हूँ । परंतु अब एक स्वामी की दासी हूँ, लोक की दासी हूँ ।'

मेरे मित्र ! मैं महाराज शतानीक से मिला और मैंने कहा : 'देव ! वह दासत्व तो बिल्कुल मिट जाना चाहिये ।'

महाराज ने कहा : 'ठीक कहते हो श्रेष्ठि ! हमारे राज्य में गण व्यवस्था का दायित्व है कहाँ ? फिर भी है, परंतु मैं अकेला ही तो उसे नहीं मिटा सकता । फिर भी मैंने शास्त्रियों को बुलाया है और दास-दासियों के उत्थान के लिये नियम बना रहे हैं ।'

मैं समझता हूँ यह बहुत बड़ा परिवर्तन होगा ।

अब मैं अपना पत्र समाप्त करता हूँ। श्रेष्ठि गोभद्र का राजगृह से एक सार्थ यहाँ आया है। वह लौट रहा है कोसांबी से। उसीके हाथ यह पत्र भिजवा रहा हूँ। वे इधर किसी धूर्त के चक्कर में फँस गये सुने जाते हैं। पर फिर भी मुझे आशा है कि वे अपने किसी पूर्व की ओर जाते सार्थ के हाथ यह पत्र ताम्रलिप्ति तक पहुँचवा ही देंगे। यदि यह पत्र पा सको तो मुझे उत्तर भिजवा देना। सकुशल होगे और विद्याधरों और यक्षों से प्रार्थना करता हूँ कि सदा सुखी रहो। इन्द्र तुम्हारी रक्षा करें। समस्त लोकों के एकमात्र आधार विष्णु तुम्हारा मंगल करें। स्वस्ति !

परिशिष्ट

महावीर स्वामी के उपदेशों को उनके कई वर्षों के बाद लिखा गया, इसीलिये उनके सामाजिक रूप अब लुप्त हो गये हैं। किंतु उन्होंने जैसा जीवन व्यतीत किया वह यही बताता है कि वे अपने समय में एक बड़े उद्धारक के रूप में आये थे।

आज का युग बदल गया है। उस समय आर्थिक विषमताओं के मूल कारण का ज्ञान न होने के कारण उसे पुराने लोग समझ नहीं पाते थे। आज उनका निवारण और तरीकों से भी हो सकता है। आज हमारे विचार बहुत-सी बातों में नयी-नयी जानकारी पाकर आगे बढ़ चुके हैं। परंतु जहाँ तक मनुष्य के अहंकार का प्रश्न है, वह आज भी जीवित है।

मार्क्स ने यह समझा था कि संपत्ति के कारण मनुष्य में स्वार्थलिप्सा, पद-लिप्सा और लोलुपता जागी थी। परंतु यह मार्क्स की गलती थी। मनुष्य में यह तत्व पहले ही थे, संपत्ति ने उन्हें बल दिया। संपत्ति का समाजवादीकरण होने पर भी वह पद और स्वार्थलिप्सा रूस में बची हुई है यह स्पष्ट हो गया है।

यह अहं किस प्रकार उदात्त हो सकता है, इसपर मैंने 'हल की नोंक' में विश्लेषण किया है।